स्वामी विवेकानन्दजी
से
वार्तालाप

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
नागपुर, मध्यप्रदेश

अगस्त १९५०]

[मूल्य १।=)

वक्तव्य

स्वामी विवेकानन्दजी का अपने शिष्यों के साथ समय समय पर अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर जो वार्तालाप होता था वह इस पुस्तक में लिपिबद्ध है। ये वार्तालाप धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी अनेक विषयों पर हैं। इनमें स्वामीजी ने यह दर्शाया है कि वास्तव में भारतीय संस्कृति का क्या अर्थ है; साथ ही उन्होंने वे मार्ग तथा साधन भी दर्शाये हैं जिनसे हमारी इस संस्कृति का पुनरुत्थान हो सकता है। उनकी ओजपूर्ण तथा प्रोत्साहनयुक्त वाणी में सचमुच वह संजीवनी है जिससे हमारा समस्त जीवन ही सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित होकर हम एक महान् उच्च आदर्श को पहुँच सकते हैं।

मूल पुस्तक का अनुवाद स्वामी ब्रह्मस्वरूपानन्दजी, उत्तरकाशी, ने किया है। उनके इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम उनके परम कृतज्ञ हैं।

डॉ. पं. विद्याभास्करजी शुक्ल, एम. एम-सी., पी-एच. डी., प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर को भी हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रूफ-संशोधन के कार्य में हमें बड़ी सहायता दी है।

हमें विश्वास है, इस पुस्तक से हिन्दी जनता का हित होगा।

नागपुर,
ता. १-८-१९५० }

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी विवेकानन्दजी
से
वार्तालाप

१. लन्दन में भारतीय योगी

(वेस्ट मिन्स्टर गजेट, २३ अक्टूबर, १८९५ ई.)

कुछ वर्षों से यहाँ अर्थात् इंग्लैण्ड के बहुत से लोगों के हृदय में भारतीय दर्शन के संबंध में गम्भीर तथा दिनोंदिन बढ़नेवाले प्रभाव का विस्तार हो रहा है। परन्तु आज तक जिन्होंने इस देश में उस दर्शन की व्याख्या की, उनकी चिन्तन-प्रणाली और शिक्षा-दीक्षा आदि सम्पूर्ण पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित होने के कारण वेदान्त तत्त्व के गम्भीर रहस्य के विषय में वास्तव में लोगों को बहुत ही थोड़ी जानकारी प्राप्त हुई है; और जो कुछ हुई भी, वह भी इने-गिने व्यक्तियों में ही सीमित है। प्राच्य भाव से शिक्षित-दीक्षित एवं प्राच्य भाव से गठित योग्य आचार्यगण वेदान्तशास्त्र से जिस गम्भीर तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर लेते हैं, साधारण लोग उस ज्ञान-भंडार को, उन शास्त्रों के अनुवाद से प्राप्त करने की अन्तर्दृष्टि तथा साहस प्रायः नहीं रखते, क्योंकि वे अनुवाद-ग्रन्थ प्रधानतः शब्दशास्त्रज्ञों के लिए ही उपयुक्त होने के कारण, सर्व सामान्य के लिए कठिन होते हैं।

वार्तालाप

एक संवाददाता ने हमको लिखा है—" उपर्युक्त कारणों से हम—कुछ तो वास्तविक जिज्ञासा के साथ और कुछ कौतूहलवश —स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट करने गए थे; क्योंकि पाश्चात्यों के लिए तो वे एक प्रकार से नितान्त नवीन ही प्रतीत होने वाले वेदान्त-धर्म के प्रचारक थे। वे सचमुच एक महान भारतीय योगी हैं, युग-युगान्तर से संन्यासी तथा योगीगण शिष्यपरम्परा-क्रम से जिस विद्या का प्रचार कर रहे हैं उसी की व्याख्या करने के लिए उन्होंने निर्भीक और निःसंकोच हो इस पाश्चात्य भूखण्ड में आगमन किया है, एवं उसी उद्देश्य से उन्होंने कल रात को प्रिन्सेस हॉल में एक भाषण भी दिया था।

स्वामी विवेकानन्दजी के सिर पर पगड़ी शोभायमान थी, मुख पर शान्ति और प्रसन्नता प्रकट हो रही थी; इनके दर्शन-मात्र से ही यह स्पष्ट भान होता था कि इनमें कुछ विशेषता है।

हमने पूछा—स्वामीजी, क्या आपके नाम का भी कुछ अर्थ है ? यदि कुछ अर्थ हो तो क्या आप कृपया हमें बतायेंगे ?

स्वामीजी—अब मैं जिस (स्वामी विवेकानन्द) नाम से परिचित हूँ उसके प्रथम शब्द का अर्थ है संन्यासी, अर्थात् जिसने विधिपूर्वक संसाराश्रम का परित्याग कर संन्यासाश्रम को स्वीकार किया हो। दूसरा शब्द (विवेकानन्द) एक उपाधिमात्र है। संसार त्याग देने के बाद ही मैंने इस नाम को ग्रहण किया है और सभी संन्यासी ऐसा करते हैं। उसका अर्थ है — विवेक का अर्थात् सदसद्विचार का आनन्द।

हमने फिर पूछा—अच्छा, स्वामीजी, संसार के सारे लोग जिस राह पर चलते हैं आपने उसका त्याग क्यों कर दिया ?

उन्होंने उत्तर दिया—"बाल्यकाल से ही धर्म तथा दर्शन-चर्चा में हमारी विशेष रुचि थी। हमारे शास्त्र का उपदेश है कि त्याग ही मनुष्य का श्रेष्ठतम आदर्श है। बाद में श्रीरामकृष्ण परमहंस नामक एक उन्नत तथा महान धर्माचार्य से हमारी भेंट हुई। हमने देखा कि हमारे जीवन का जो सर्वश्रेष्ठ आदर्श है, उसे उन्होंने अपने जीवन में परिणत किया है। इसलिए उनसे साक्षात्कार होने के बाद ही हममें यह प्रबल इच्छा जागृत हुई कि वे जिस राह पर चल रहे हैं हम भी उसी पर चलें। तब हमने संन्यास ग्रहण करने का संकल्प किया।"

"तब तो वे एक सम्प्रदाय की स्थापना कर गए होंगे और आप इस समय उनके ही प्रतिनिधिरूप होंगे ?"

स्वामीजी ने तत्काल उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, साम्प्रदायिकता और कट्टरता के कारण आध्यात्मिक संसार में सर्वत्र गम्भीर व्यवधान की जो सृष्टि हुई है उसको दूर करने के लिए ही तो उनके समग्र जीवन का नियोग हुआ था। उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की वरन् उससे नितान्त विपरीत ही किया है। जनसाधारण जिससे पूर्णतया स्वतन्त्र चिन्तापरायण हो सके, इसी विषय में उनका अतिशय लगाव था, एवं इसी मार्ग पर उन्होंने प्राणों की भी बाजी लगाकर भरसक प्रयत्न किया था। वे वास्तव में एक महान योगी थे।

प्रश्न:—तब तो इस देश के किसी समाज तथा सम्प्रदाय के साथ आपका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होगा ? जैसे—थियोसॉफिकल सोसाइटी, क्रिश्चियन साइन्टिस्ट, * अथवा अन्य कोई सम्प्रदाय ।

स्वामीजी ने स्पष्ट और हृदयस्पर्शी स्वर से उत्तर दिया—"नहीं, इनमें से किसी के साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं । (स्वामीजी का मुख ऐसा सरल, अकपट और सद्भावपूर्ण है कि जब वे बोलते हैं, तो उनका मुखमण्डल बालक की तरह खिल उठता है)। हम जो कुछ भी शिक्षा दे रहे है, वह उसी की व्याख्या है जो कुछ हमने अपने गुरुदेव के उपदेशानुसार अपने प्राचीन शास्त्रों से सीखा है तथा जिनके रहस्यों का अनुभव किया है । अलौकिक उपाय से प्राप्त किसी प्रकार के अलौकिक विषय की शिक्षा देने का दावा हम नहीं करते । हमारे उपदेशों में विचारशील व्यक्ति अपनी तीव्र विचार-बुद्धि से जो कुछ भी ग्रहण योग्य समझें, लोग यदि उतना ही ग्रहण कर लें तो भी हमारा श्रम सार्थक होगा ।"

---

* Christian Scientists—अमेरिका के एक धर्मसम्प्रदाय का नाम है । श्रीमती एडी नामक एक अमेरिकन महिला इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठात्री हैं । इनके मतानुसार रोग, दुःख, पाप आदि मन के भ्रम मात्र हैं; इसलिए हमको यदि दृढ़ विश्वास हो जाय कि 'हममें कोई भी रोग नहीं है' तो अवश्य ही हम रोगमुक्त हो जाएँगे । ये लोग कहते हैं कि हमीं वास्तव में ईसा के मत का पालन कर रहे हैं; और वे जिस अलौकिक उपाय से रोगी को रोगमुक्त कर देते थे, हम भी पूर्वोक्त दृढ़ विश्वास के बल से वैसा ही कर सकते है ।

उन्होंने यह भी कहा—"सभी धर्मों का लक्ष्य किसी विशेष मानवजीवन को आदर्शस्वरूप मानकर स्थूल भाव से भक्ति, ज्ञान अथवा योग की शिक्षा देना ही है। इन आदर्शों का अवलम्बन कर भक्ति, ज्ञान और योग सम्बन्धी जो साधारण भाव तथा साधनाप्रणालियाँ प्रचलित हैं, वेदान्त उसी का विज्ञान-स्वरूप है। हम तो उसी विज्ञान का प्रचार करते हैं और यही कहते हैं कि उसी विज्ञान की सहायता से, प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने आदर्श को समझले। हम प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी अभिज्ञता को ही प्रमाणरूप से ग्रहण करने का उपदेश देते हैं। और जहाँ हम किसी ग्रन्थ का प्रमाणरूप से उल्लेख करते हैं, वहाँ उसका अर्थ यही है कि थोड़ा यत्न करके आप वे ग्रन्थ प्राप्त कर सकते हैं तथा इच्छा होने पर सभी लोग उन्हें पढ़ भी सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि साधारण लोगों के लिये सर्वथा अदृश्य रहने वाले अलौकिक महात्मा जो किसी एक व्यक्ति को माध्यम बना कर अपने उपदेश का प्रचार करते हैं उनके प्रति विश्वास करने को या उनके उपदेशों को हम कहीं पर भी प्रमाणरूप से उपस्थित नहीं कर रहे हैं, और न तो हम यह भी दावा करते हैं कि किसी गुप्त पुस्तक से या किसी हस्तलिखित ग्रन्थ से हमने कोई गुप्त विद्या सीखी है। न तो हम किसी गुप्त-समिति के सदस्य हैं और न हम उस प्रकार की समिति से संसार का किसी प्रकार कल्याण होने का विश्वास ही रखते हैं। सत्य स्वयं प्रमाण है। उसको अँधेरे में छिपाने का कोई प्रयोजन नहीं, वह तो अनायास ही दिवालोक को सहन कर सकता है।"

हमने पूछा—"तो, स्वामीजी, क्या आपके मन में किसी समाज अथवा समिति की प्रतिष्ठा करने का संकल्प नहीं है?"

उत्तर—"नहीं, किसी समिति या समाज की प्रतिष्ठा करने की हमारी इच्छा नहीं। हम तो केवल उसी आत्मा का उपदेश करते हैं जो सब प्राणियों के हृदय में गूढ़ भाव से अवस्थित है, और जो सभों की अपनी सम्पत्ति है। यदि कुछ दृढ़चित्त पुरुष उस आत्मज्ञान का लाभ कर सकें, और उस ज्ञान के अनुरूप उनके जीवन में आचरण प्रतिष्ठित हो जाय जिससे कि उनकी प्रतिदिन की कार्यप्रणाली या दिनचर्या उस ज्ञान द्वारा नियन्तृत हो, तो प्राचीन युगों की तरह, अभी भी सारी दुनियाँ में हलचल मचाकर वे उसका रूप बदल दे सकते हैं। प्राचीन काल में एक एक दृढ़चित्त महापुरुष अपने अपने समय में ऐसे ही एक एक नवीन युग का प्रवर्तन कर गए हैं।"

हमने फिर पूछा—"स्वामीजी, आप क्या भारत से यहाँ हाल ही में आए हैं? (क्योंकि उनका मुख देखने से प्राच्य देश की प्रचण्ड सूर्य-किरणों की याद आती है)।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"नहीं, सन १८९३ ई० में अमेरिका के शिकागो शहर में जो धर्म-महासभा का अधिवेशन हुआ था, उसमें हमने हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि का कार्य किया था। तबसे हम युक्तराष्ट्र अमेरिका में भ्रमण करते हुए धर्मप्रचार के लिए वक्तृता दे रहे हैं। अमेरिकन जाति विशेष आग्रह के साथ हमारी वक्तृता सुन रही है, और हमारे साथ परम मित्र की नाईं व्यवहार कर

रही है। वहाँ हमारा कार्य बहुत दृढ़मूल हुआ है, जिससे कि शीघ्र ही हमको वहाँ फिर लौटना पड़ेगा। "

प्रश्नः—" स्वामीजी, पाश्चात्य धर्ममतों के विषय में आपकी क्या राय है ? "

उत्तरः—" हम ऐसे एक दर्शन का प्रचार कर रहे हैं जो संसार के सारे धर्ममतों की भित्ति हो सकता है, और इसीलिए हमारी सहानुभूति सबके लिए है। हमारा उपदेश किसी धर्ममत का विरोधी नहीं है। हम व्यक्तिगत जीवन की उन्नति की ओर ही विशेष ध्यान रखते हैं। हम तो व्यक्ति को ही जगाने की कोशिश करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर का अंश या साक्षात् ब्रह्म है, हम तो यही शिक्षा देते हैं। और सर्वसाधारण को उनके आभ्यन्तरीण उसी ब्रह्मभाव के सम्बन्ध में सचेत होने के लिए ही आवाहन करते हैं। ज्ञात भाव से या अज्ञात भाव से—यही वस्तुतः सभी धर्मों का आदर्श है। "

प्रश्नः—" इस देश में आपका कार्य किस प्रकार का होगा ? "

उत्तरः—" हमारी आशा इस प्रकार की है कि हम कुछ व्यक्तियों को पूर्वोक्त रीति से शिक्षा देंगे; और फिर वे अपने अपने ढंग से दूसरों के पास उस सत्य का प्रचार करेंगे; इस विषय में हम उनको प्रोत्साहन देंगे। चाहे वे हमारी शिक्षा को अपनी इच्छानुसार कितनी ही रूपान्तरित क्यों न करें, फिर भी कुछ हानि नहीं। हाँ

हम ऐसी कोई शिक्षा नहीं देंगे जो कि जबरन मान लेनी पड़े; क्योंकि हम जानते हैं कि अन्त में सत्य का जय अवश्य ही होता है।

"हम आम जनता के लिए जो कुछ कार्य कर रहे हैं, उसके संचालन का भार हमारे दो-एक बन्धुओं को सौंपा गया है। २२ अक्टूबर की शाम को साढ़े आठ बजे 'पिकेडली प्रिन्सेज़ हॉल' में अंग्रेज श्रोताओं के लिए उन्होंने हमारे एक भाषण की योजना की है। चारों तरफ इस विषय की घोषणा की गई है। विषय है हमारे द्वारा प्रचारित वेदान्तदर्शन का मूल तत्त्व—'आत्मज्ञान'। उसके बाद अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्भाव्य उपायों का अवलम्बन करने के लिए हम तैयार हैं। लोगों के बैठकखाने में या अन्य किसी स्थान की सभा में उपस्थित होना, पत्र का जवाब देना अथवा साक्षात् ही विचार-विनिमय करना इत्यादि सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करने को हम प्रस्तुत हैं। इस अर्थलिप्सापूर्ण कलुषित युग में हम सर्वप्रथम ही इस बात को प्रकट करना चाहते हैं कि हम जो कुछ भी अनुष्ठान कर रहे हैं, अर्थप्राप्ति की आशा के साथ यह बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं रखता।"

इसके बाद हमने उनसे (स्वामीजी से) विदा ली। आज तक जितने मनीषियों के साथ हमारी भेंट हुई है, उनमें ये स्वामीजी सबसे अधिक मौलिक-भाव-सम्पद् के अधिकारी हैं, इसमें हमें कुछ भी सन्देह नहीं।

---

२. भारत का जीवनव्रत

(सण्डे टाइम्स, लन्दन, सन १८९६ ई.)

इंग्लैंड के निवासी भारत के " प्रवाल देश " * में धर्मप्रचारकों को भेजते हैं, इस बात को तो इंग्लैंड की जनता अच्छी तरह जानती है। " सारे संसार में पर्यटन करते हुए इस शुभ समाचार का प्रचार करो "—महात्मा ईसा की इस वाणी का वे ऐसी पूर्णता से पालन करते हैं कि इंग्लैंड के प्रधान प्रधान धर्म-सम्प्रदायों में कोई भी उनके इस आदेश के अनुसार कार्य करने में पीछे नहीं रहते। परन्तु भारत भी इंग्लैंड में धर्म-प्रचारक भेजता है—इस बात को यहाँ की आम जनता प्रायः नहीं जानती।

सेन्ट जार्ज रोड, साउथ-वेस्ट, ६३ नं. भवन में स्वामी विवेकानन्दजी थोड़े समय के लिए ही ठहर रहे हैं। दैवयोग से (यदि ' दैव ' शब्द के प्रयोग में किसी को आपत्ति न हो तो) वहाँ पर ही स्वामीजी से मेरा साक्षात्कार हो गया। आप क्या काम कर रहे थे और इंग्लैंड में पधारने का आपका क्या प्रयोजन था, इत्यादि विषयों पर वार्तालाप करने में भी उन्हें कोई आपत्ति न थी;

* Coral-Strands—प्राचीन समय में जब कि भारत के साथ पाश्चात्य देशों का विशेष परिचय नहीं था तब पाश्चात्य जातियों में भारत के विषय में यही धारणा थी कि भारतवर्ष के समुद्र-तट पर प्रवाल ही प्रवाल पाये जाते हैं। अतः यह कथन इसी धारणा के कारण प्रचलित हुआ है।

अतएव उनके पास जाकर उन विषयों पर हमने उनसे वार्तालाप प्रारम्भ किया। वे जब हमारी प्रार्थना को स्वीकार करके हमारे साथ उस तरह वार्तालाप करने को तैयार हुए तो प्रथमतः हमें बहुत विस्मय हुआ। उन्होंने कहा---

"अमेरिका में निवास करते समय से ही इस प्रकार संवाद-पत्र के प्रतिनिधियों से भेंट करने की हमारी आदत दृढ़ हो गई है। हमारे देश में यद्यपि इस प्रकार की रीति नहीं है, फिर भी अन्य देशों में पहुँचकर जब हम अपने वक्तव्य एवं विचारों से सर्वसाधारण को परिचित कराना चाहते हैं, तो उस देश में प्रचार सम्बन्धी विद्यमान उपायों तथा साधनों का अवलम्बन न करना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। सन १८९३ ईसवी में अमेरिका के शिकागो नगर में सारे संसार की धर्म-महासभा का जो अधिवेशन हुआ था, उसमें हम हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि थे। मैसूर के राजा तथा अन्य कुछ सज्जनों ने हमें वहाँ भेजा था। अपने विचार से हम अमेरिका में कुछ सफलता का दावा भी कर सकते हैं। शिकागो शहर के अतिरिक्त अमेरिका के अन्य अनेक बड़े बड़े शहरों में भी हम कई बार आमंत्रित किए गए। और अब तो एक लम्बे अरसे से हम अमेरिका में रह रहे हैं। गत वर्ष ग्रीष्म ऋतु में हम एक बार इंग्लैंड आए थे, इस साल भी आप देख ही रहे हैं कि हम यहाँ आ गए हैं। इस बीच लगभग तीन साल हम अमेरिका में ही रहे। हमारी समझ में अमेरिका की सभ्यता बहुत उच्चकोटि की है। हमने देखा कि अमेरिकन जाति का चित्त अनायास ही नूतन भावधारा के साथ

परिचित हो जाता है। किसी एक वस्तु की नूतनता मात्र से ही वे उसे नहीं त्यागते, वरन् उसके वास्तविक गुण-दोषों का विचार करके ही उसकी त्याज्यता अथवा ग्राह्यता का निर्णय करते हैं। "

प्रश्न---" तो क्या आपके कहने का मतलब यह है कि इंग्लैंड के लोग अन्य प्रकार के हैं ? "

उत्तर---" जरूर, इंग्लैंड की सभ्यता अमेरिका से भी पुरानी है। सदियों से लेकर आज तक उसमें कितने ही नये नये विषयों के संयोजन से इस सभ्यता का विकास हुआ है। लेकिन उसी तरह इसमें कुछ कुसंस्कार भी आ मिले हैं। हमें उनको हटाना पड़ेगा। अब जो कोई भी आपके बीच किसी नवीन सत्य का प्रचार करना चाहेगा उसे तो उन कुसंस्कारों की ओर ही विशेष दृष्टि रखकर काम करना होगा। "

प्रश्न---" लोग ऐसा कहते हैं, ज़रूर। अच्छा हम जहाँ तक जानते हैं अमेरिका में आप किसी नये धर्म-सम्प्रदाय या धर्ममत की प्रतिष्ठा करके तो नहीं आए हैं ? "

उत्तर---" आपका कहना सत्य है। सम्प्रदायों की संख्या में वृद्धि करना हमारी नीति के विरुद्ध है, क्योंकि सम्प्रदायों की संख्या दुनिया में मतलब से कहीं अधिक पहिले से ही विद्यमान है। फिर सम्प्रदाय के संचालन के लिए आदमी भी चाहिए। आप ही विचार कर देखिए कि जिन्होंने संन्यास का अवलम्बन कर लिया है, अर्थात् सांसारिक पदमर्यादा, विषय-सम्पत्ति, नाम-यश आदि सभी कुछ छोड़ दिया है, सिर्फ आध्यात्मिक ज्ञान के अन्वेषण को ही अपने जीवन

का एकमात्र व्रत समझा है, वे इस प्रकार के कार्य का भार किस तरह ले सकते हैं? और खास बात तो यह है कि जब वैसे काम अन्य दूसरे लोग कर ही रहे हैं तो फिर उन कामों में हाथ डालना निष्प्रयोजन ही है।"

प्रश्न—"आपकी शिक्षा क्या धर्मों की तुलनात्मक समालोचना करना है?"

उत्तर—"नहीं, 'सब प्रकार के धर्मों के सार की शिक्षा देना'—इतना कहने से ही मैं जो शिक्षा दे रहा हूँ उसके सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट धारणा हो सकती है। धर्मों के गौण अंगों को छोड़कर उनमें जो मुख्य भाग है अर्थात् जिस पर वे प्रतिष्ठित हैं उसी की ओर विशेष रूप से दृष्टि आकर्षित करना ही हमारा कार्य है। हम तो श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के एक शिष्य हैं। वे एक सिद्ध महापुरुष थे। उनके आचरण और उपदेशों ने हमारे ऊपर गम्भीर प्रभाव डाला था। ये संन्यासी-श्रेष्ठ कभी किसी धर्म को समालोचना की दृष्टि से नहीं देखते थे। 'अमुक अमुक धर्मों में अमुक अमुक भाव योग्य नहीं है' इस प्रकार के शब्दों का वे प्रयोग नहीं करते थे; बल्कि उनमें जो कुछ उत्तम है उसी की ओर वे देखते थे। और अपने आचरण द्वारा हम जिस प्रकार उन उत्तम भावों को अपने जीवन का अंग बना सकते हैं, उसका उपाय बतलाते थे। किसी धर्म से विरोध करना, या किसी धर्म का प्रतिपक्षी होना, यह तो उनकी शिक्षा के नितान्त विरुद्ध है, क्योंकि उनकी शिक्षा की मूल भित्ति तो यही थी कि सम्पूर्ण जगत् प्रेम के बल से ही

नियंत्रित है। आप जानते हैं कि हिन्दू धर्म ने कभी भी किसी दूसरे धर्म के ऊपर अत्याचार नहीं किया। हमारे देश में सभी सम्प्रदाय आपस में प्रेम रखते हुए शान्तिपूर्वक साथ साथ रह सकते हैं। मुसलमानों के आगमन के साथ ही भारत में धर्म के नाम पर हत्या, अत्याचार आदि का प्रवेश हुआ है। उनके आने के पूर्व तक भारत का आध्यात्मिक वातावरण शान्तिपूर्ण था। दृष्टान्त स्वरूप देखिए:—जैन लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इतना ही नहीं, वे इस आस्तिकता को भ्रान्ति कहकर प्रचार भी करते हैं, तो भी उनके अपने मतानुसार धर्मानुष्ठान करने में किसी ने कभी कोई बाधा उपस्थित नहीं की। और आज तक भी वे भारत में शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं। हम कह सकते हैं कि एकमात्र भारत ने ही इस विषय में शान्ति और मृदुतारूपी यथार्थ वीरता का परिचय दिया है। युद्ध, हठकारिता, दु:साहसिकता और प्रबल आघात करने की शक्ति आदि धर्मजगत में दुर्बलता के ही चिह्न कहे गए हैं।"

प्रश्न—"आपके भाषण से टॉल्सटाय * की याद आती है।

---

* Count Leo Tolstoi—ये रूस के निवासी प्रसिद्ध परहित-कारी चिन्तनशील लेखक तथा समाजसंस्कारक थे। १८२८ ईसवी में रूस के मास्को शहर से १३० मील की दूरी पर किसी गाँव में इनका जन्म हुआ था; और १९१३ ईसवी में ये परलोक सिधारे। लगभग एक अर्धशताब्दी तक इनके नि:स्वार्थ जीवन का प्रभाव समग्र मानव जाति के ऊपर असर करता रहा। दरिद्रों के लिए उनकी यथार्थ हार्दिक सहानुभूति का परिचय १८६१ ईसवी में

हो सकता है व्यक्तिविशेष के लिए इस मत का पालन हो सके। यद्यपि इसमें भी हमारा व्यक्तिगत सन्देह है, परन्तु समग्र जाति के लिए उस नियम अर्थात् आदर्श का पालन करना कैसे सम्भव है ?"

उत्तर—"जाति के लिए भी वह आदर्श उत्तम काम देगा। देखा जाता है कि अन्य जातियों द्वारा विजित होना तथा तत्पश्चात्

मिला था। उस समय उन्होंने अपनी जमींदारी के अन्तर्गत सारे गुलामों को मुक्त कर दिया था: और किसान मजदूरों के लिए विद्यालयों की स्थापना करके स्वयं ही उनको चित्र-विद्या, संगीत-विद्या तथा बाइबिल के इतिहास की शिक्षा देने लगे। 'अनिष्टकारी के प्रति अन्याय आचरण न कर उसके प्रति सदय व्यवहार करो'—महात्मा ईसा के इस महान उपदेश को उन्होंने अपने जीवन में परिणत कर दिखाया और अपने ग्रन्थों में से भी इसी तत्त्व का उन्होंने बारम्बार प्रचार किया है। जिससे कि सम्पूर्ण संसार में युद्ध आदि बन्द हो जाय तथा सर्वत्र शान्ति प्रतिष्ठित हो—यही उनके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। उनकी यह भी इच्छा थी कि उनकी सारी सम्पत्ति गरीबों को दान कर दी जाय, परन्तु उनकी यह आशा परिवारवालों ने पूर्ण नहीं होने दी। सन १८९२ ईसवी में उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति अपने स्त्री-पुत्रों को सौंपकर स्वयं कृषक के वेश में सामान्य जीवन का अवलम्बन किया। जीवन की अन्तिम अवस्था में संसार के साथ सारे सम्बन्ध तोड़कर वे संन्यासी की तरह बाहर निकल पड़े। उनकी इच्छा थी कि अन्तिम अवस्था में निर्जन में रहकर यथार्थ ईसाई की तरह जीवन व्यतीत करें। घर से बहुत दूर—किसी मठ में कुछ काल निवास करने के बाद और भी निर्जन स्थान के लिए उन्होंने यात्रा शुरू कर दी। परन्तु रास्ते में भयानक कठिनाइयों के बीच किसी अपरिचित रेलवे स्टेशन में वे प्रबल ज्वर तथा कफरोग से ग्रसित होगये। अन्त में उसी बीमारी से वे चल बसे। इस विलासिता के युग में भी वे ऋषि सदृश थे, इसमें कुछ सन्देह नहीं। यथार्थ अहिंसाधर्म का मर्म उन्हें उपलब्ध था।

समय समय पर उन्हीं जातियों पर धर्मबल से जय प्राप्त करना मानो भारत का कर्मफल रहा है। भारत ने अपने मुसलमान विजेताओं को धर्म के बल से इसी बीच जीत लिया है। सभी, शिक्षित मुसलमान सूफी * हैं। उनको हिन्दुओं से पृथक करना कठिन है। हिन्दू धर्म का प्रभाव तो उनकी सभ्यता की नस नस में भिद गया है। उन्होंने भारत के सम्मुख शिक्षार्थी का भाव धारण किया है। मुगल सम्राट अकबर भी कार्यतः एक हिन्दू ही थे। फिर जब इंग्लैंड की बारी आएगी तो उसे भी भारत जीत लेगा। आज इंग्लैंड के हाथ में तलवार है; परन्तु भाव-जगत में उसकी कोई भी उपयोगिता नहीं, बल्कि उससे अपकार ही हुआ करता है। आप जानते हैं कि शोपेनहॉअर †

---

* सन ८२० ईसवी में आबु सैयद आबुलच्च द्वारा प्रतिष्ठित मुसलमान सम्प्रदाय-विशेष का नाम। इस सम्प्रदाय के मत के साथ मुहम्मद की शिक्षा की अपेक्षा वेदान्तोक्त अद्वैतवाद का ही अधिक सादृश्य देखा जाता है। उनके मतानुसार जीव अपने प्रेम के बल से अन्त में भगवान में लीन हो जाता है, और तदनुसार वे साधनादि भी किया करते हैं। इनमें बहुत से तो पूरे अद्वैतवादी हैं। त्याग और वैराग्य इनके भी मुख्य साधन हैं। अनेक पण्डितों के मत से भारतीय वेदान्त के प्रभाव से इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई है। मुसलमानों के द्वारा भारत की विजय होने के बाद भारतवासियों के साक्षात् सम्बन्ध में आने से इस मत की विशेष पुष्टि हुई थी। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

† Schopenhaur (शोपेनहॉअर)—जर्मनी के एक विख्यात दार्शनिक। सुविख्यात दाशनिक कॅण्ट (Kant) के अनुयायी होकर, उन्हीं के मत का विकास-साधन करने पर भी, उनके दर्शन में भारतीय वेदान्त का प्रभाव सुस्पष्ट है। उपनिषदों के फारसी अनुवाद का फिर जो लैटिन अनुवाद हुआ था,

ने भारतीय भाव तथा चिन्तन के विषय में क्या कहा है। उन्होंने ऐसी भविष्यवाणी की थी कि 'तमोयुग' * के बाद ग्रीक और लैटिन विद्या का उदय होने से यूरोप खण्ड में जैसा महान परिवर्तन हुआ था, भारतीय भावराशि का भी यूरोप में प्रचार होने पर वैसा ही परिवर्तन अवश्य होगा।"

प्रश्न—"कृपया क्षमा कीजिए; लेकिन आज तक तो इस प्रकार होने का कुछ भी लक्षण देखने में नहीं आ रहा है।"

स्वामीजी ने बड़ी गम्भीरता से जबाब दिया—"अभी न देखा जाता होगा। परन्तु यह भी तो अच्छी तरह कहा जा सकता है कि यूरोप के उस प्राचीन 'जागरण' † के समय पर भी बहुतों को उसके कुछ भी पूर्व चिह्न नहीं दिखाई दिए थे। और उस जागरण का पूर्णतया आविर्भाव हो जाने पर भी उसके आगमन को

उसका अध्ययन करके वे उपनिषदों के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। और उसके लिए वे कितने ऋणी हुए इसका उल्लेख उन्होंने अपने ग्रन्थों में बारम्बार किया है। इनके मतानुसार समग्र जगत एक इच्छाशक्ति का ही विकास मात्र है और ब्रह्मचर्य तथा संयमादि के बल से वासना का नाश कर उस अपार इच्छा रूपी समुद्र में अपनी क्षुद्र इच्छा का विलय करना ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

* Dark Age—पाँचवी सदी से लेकर पन्द्रहवीं सदी तक जब कि यूरोप अज्ञानरूपी अंधकार से आच्छन्न था।

† Renaissance—पन्द्रहवीं सदी के पश्चात् जब कि यूरोप में साहित्य, शिल्प आदि की चर्चा का पुनरभ्युदय हुआ, उस काल को इतिहास में इस नाम से पुकारते हैं।

बहुतों ने नहीं समझा। जो लोग समय की गति को अच्छी तरह जानते हैं वे अवश्य ही समझते हैं कि आजकल अन्दर ही अन्दर एक महान आन्दोलन मचा है। सम्प्रति कुछ सालों से प्राच्य तत्त्वानुसन्धान बहुत आगे बढ़ गया है। वर्तमान समय में यह काम पण्डितों के हाथ में ही है, और वे आज तक जहाँ तक अग्रसर हुए हैं, लोगों की दृष्टि में यद्यपि वह सूखा, नीरस ही प्रतीत हो रहा है, फिर भी जनता उस तत्त्व को धीरे धीरे समझेगी और समय पाकर ही ज्ञानालोक का विस्तार होगा।"

प्रश्न—"तब तो आपके मत में भविष्य में भारत ही श्रेष्ठ विजेता का आसन ग्रहण करेगा? यदि ऐसा ही होना है तो भारत अन्य देशों में अपनी भावराशि का प्रचार करने के लिए अधिक धर्म-प्रचारकों को क्यों नहीं भेजता है? अथवा जब तक सारी पृथ्वी आकर उसके चरणों में न गिरेगी, तब तक भारत क्या राह ही देखता रहेगा?"

उत्तर—"प्राचीन काल में भारत धर्मप्रचार के लिए एक प्रबल केन्द्र बना हुआ था। इंग्लैंड के लोगों के ईसाई मत ग्रहण करने के सैकड़ों साल पहले से ही भगवान बुद्ध ने सम्पूर्ण एशिया खण्ड को एक धर्मसूत्र में ग्रथित करने के लिए सर्वत्र धर्म-प्रचारक भेजे थे। वर्तमान समय में भी संसार की चिन्ताधारा भारतीय भावधारा का ही धीरे धीरे अनुकरण कर रही है। परन्तु यह अभी केवल प्रारम्भ है। किसी विशेष धर्ममत को स्वीकार न करने की ओर झुकाव रखने वालों की संख्या में वृद्धि हो रही है, वह भी फिर शिक्षित समुदायों

में अधिक से अधिक देखी जाती है। सम्प्रति अमेरिका में जो जन-गणना हुई थी, उसमें बहुत से लोगों ने अपने को किसी सम्प्रदाय-विशेष में श्रेणी-बद्ध करने से इन्कार कर दिया था। हम तो कहते हैं कि सारे धर्म-सम्प्रदाय एक मूल सत्य के ही विभिन्न विकासमात्र हैं। होगी तो सभी की उन्नति होगी; नहीं तो सभी नष्ट हो जाएँगे। वे सारे उस एक मूल सत्यस्वरूप केन्द्र से व्यासार्धों की नाईं निकले हुए हैं एवं विभिन्न प्रकृतिविशिष्ट मानवमन के लिए उपयोगी सत्य के प्रकाश स्वरूप हैं।"

प्रश्न—"अब हम मूल प्रसंग की ओर ही आ रहे हैं। हमारा प्रश्न है कि वह मूल या केन्द्रीभूत सत्य क्या है?"

उत्तर—"मनुष्य की आभ्यन्तरीण ब्रह्मशक्ति ही वह मूल सत्य है। हर एक मनुष्य चाहे वह कितनी ही बुरी प्रकृति का क्यों न हो, भगवान का ही प्रकाश स्वरूप है। यह ब्रह्मशक्ति आवृत रहती है—जीवों की दृष्टि से छिपी हुई रहती है। इस विषय में हमें भारतीय सिपाही-विद्रोह की एक घटना की याद आती है। उस समय किसी मुसलमान ने वर्षों से मौनव्रतधारी एक संन्यासी को भयंकर चोट पहुँचाई। उनकी मृत्यु के समय लोग उस आततायी को पकड़कर उनके पास लाए और कहा, 'स्वामीजी, आपके केवल एक बार कह देने से ही हम इसे मार डालेंगे।' तब उस महात्मा ने अपने दीर्घकाल के मौनव्रत को भंगकर अपने अन्तिम श्वास के साथ कहा—'प्यारे बच्चो, तुमने बहुत बड़ी गलती की है। वह तो साक्षात् भगवान है।' सबके पीछे वह एकत्व ही है। यही सीखना

हमारे जीवन का प्रधान लक्ष्य है। उनको तुम 'गॉड' कहो, अल्लाह, जिहोवा, प्रेम या आत्मा कहो, जो कुछ भी क्यों न कहो, वह एक ही वस्तु क्षुद्रतम कीट से लेकर महत्तम मानव तक समस्त प्राणियों में प्राणरूप से विराजमान है।"

प्रश्न—"हमें मालूम होता है, प्राच्य और पाश्चात्य दोनों जातियों के लक्ष्यों में एक विशेष प्रभेद है। आप प्राच्य लोग संन्यास, एकाग्रता आदि उपायों से महान व्यक्तित्व की सृष्टि करने की कोशिश कर रहे हैं, जब कि पाश्चात्य देशों के हम लोग समाज की पूर्णता की सिद्धि में ही लगे हुए हैं। इसी कारण हम सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं को हल करने में ही अधिक ज़ोर लगा रहे हैं, क्योंकि सर्वसाधारण के कल्याण पर ही हमारी सभ्यता प्रतिष्ठित है; हम तो ऐसा ही समझते हैं।"

स्वामीजी ने अत्यन्त दृढ़ता और आग्रह के साथ उत्तर दिया कि मनुष्य की साधुता ही सामाजिक तथा राजनीतिक सर्वविध सफलता का मूल कारण है। पार्लमेन्ट द्वारा कानूनी दबाव से किसी जातिविशेष का भला या उन्नति नहीं हो सकती। परन्तु उसी जाति में विद्यमान मनुष्यों के उन्नत और सुन्दर स्वभाव वाले होने से ही समग्र जाति भी उन्नत तथा सुन्दर हो जाती है। हम चीन देश में गए थे। किसी समय में वह चीनी जाति सर्वोत्तम सुनियंत्रित थी, परन्तु आज वही चीन देश अत्यन्त विशृंखल कुछ-एक सामान्य मनुष्यों की समष्टि जैसा बना है। इसका कारण यह है कि उस देश के शासन-कार्य के लिए प्राचीन काल में जिन उपायों का अवलम्बन किया

गया था उस शासनप्रणाली को यथाविधि परिचालित करने में समर्थ व्यक्तियों का वर्तमान समय में उस जाति में अभाव हो गया है। धर्म सभी विषयों की जड़ तक पहुँचकर उनके यथार्थ स्वरूप का अन्वेषण करता है। मूल यदि ठीक रहे तो अंग-प्रत्यंग सारे ठीक ही रहते हैं।"

प्रश्न—"भगवान सभी के भीतर विराजमान हैं, परन्तु वे आवृत रहते हैं—यह कथन तो मानो अस्पष्ट एवं व्यवहारिक जगत से बहुत दूरवर्ती मालूम होता है। लोग तो हमेशा उस ब्रह्मप्रकाश की ओर दृष्टि करके बैठे नहीं रह सकते?"

उत्तर—"बहुधा देखा जाता है कि एक ही उद्देश्य से कर्म में प्रवृत्त रहते हुए भी लोगों को आपस में इस बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं रहता। इस बात को तो जरूर ही मानना पड़ेगा कि कानून कहो, सरकार कहो या राजनीति कहो, ये कुछ भी मनुष्य जीवन के चरम लक्ष्य नहीं हो सकते। उन सबको अतिक्रमण करके, उनके द्वारा चरम गन्तव्य रूप एक ऐसा स्थान है जहाँ पहुँचने पर कानून अर्थात् विधान का शेष कुछ भी प्रयोजन नहीं रहजाता। यहाँ पर हम कह देते हैं कि संन्यासी शब्द का अर्थ है विधि का परित्याग करने वाला ब्रह्मतत्त्वान्वेषी। अथवा संन्यासी शब्द का अर्थ 'नेतिवादी' (Nihilist) ब्रह्मज्ञानी भी हो सकता है। परन्तु ऐसे शब्द का प्रयोग करते ही, साथ ही साथ, एक भूल धारणा भी हो जाती है। श्रेष्ठ आचार्यगण तो एक ही वस्तु के बारे में शिक्षा देते हैं। ईसा मसीह जानते थे कि कुछ नियमों का प्रतिपालन ही उन्नति

का मूल नहीं है। परन्तु यथार्थ पवित्रता और सच्चरित्रता ही वीर्यलाभ का एकमात्र कारण है। आप जब कहते हैं कि प्राच्यभूमि आत्मा की उच्चतर उन्नति की ओर देखती है और पाश्चात्य देश सामाजिक उन्नति की ही ओर कोशिश करते हैं, तो आप इस बात को जरूर न भूलते होंगे कि आत्मा दो प्रकार के हैं। प्रथम कूटस्थ चैतन्य जो कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप है; दूसरा आभास चैतन्य—व्यवहार में आपाततः लोग जिसे आत्मा समझते हैं।"

प्रश्न—"क्या आपका कहना यह है कि हम पाश्चात्य आभास के उद्देश्य से कार्य कर रहे हैं; और आप प्राच्यजन प्रकृत चैतन्य के उद्देश्य से कार्य कर रहे हैं।"

उत्तर—"अपने उच्च-उच्चतर, पूर्ण-पूर्णतर विकास के लिए मन विविध सोपानों में आरोहण करता हुआ ही अग्रसर होता है। वह पहले स्थूल का ही अवलम्बन करता हुआ क्रम से सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ता है। और भी देखिए कि सार्वजनीन (Universal) भ्रातृत्व की दृष्टि को लोग किस तरह लाभ करते हैं। पहिले वह साम्प्रदायिक भ्रातृभाव के रूप से प्रकट होती है। फिर उसमें संकीर्ण सीमाबद्ध और पृथकत्व का भाव होता है। बाद में हम धीरे धीरे उदारतर और सूक्ष्मतर भाव में पहुँचते हैं।"

प्रश्न—"तब आपके मत में क्या हम अंग्रेजों के प्राण से भी प्यारे इन सारे सम्प्रदायों का लोप हो जायगा? आप शायद जानते होंगे कि एक फ्रांसीसी ने कहा है कि इंग्लैंड में सम्प्रदाय तो हजारों विद्यमान हैं, परन्तु उनमें सार अल्प ही है।"

उत्तर—"उन सम्प्रदायों के लोप होजाने के विषय में हमारा कुछ भी संशय नहीं है। उनका अस्तित्व तो असार और गौण विषयों पर प्रतिष्ठित है। अवश्य ही उनमें भी जो मुख्य या साररूप वस्तु है, वह तो विद्यमान ही रहेगी; और उसी के सहारे नई सृष्टि की रचना होगी। आप को तो अवश्य वह प्राचीन उक्ति याद होगी कि 'किसी सम्प्रदाय के भीतर जन्म लेना अच्छा है, परन्तु आमरण उसी में बद्ध रहना अच्छा नहीं'।"

प्रश्न—"क्या आप कृपा कर यह बतलाएँगे कि इंग्लैंड में आपके कार्य का विस्तार कैसा हो रहा है?"

उत्तर—"धीरे धीरे हो रहा है। इसके कारण के विषय में हम पहले ही आपको बतला चुके हैं। जहाँ मूल को पकड़कर ही कार्य होता है वहाँ यथार्थ विस्तार या उन्नति अवश्य ही धीरे धीरे होती है। और यह कहना न पड़ेगा कि, जैसे भी हो, इन सब भावों का विस्तार होगा ही। अब इन बातों के प्रचार करने का भी समय निकट आ गया है—ऐसा हमें प्रतीत हो रहा है।"

उसके बाद स्वामीजी के मुँह से यह सब सुना कि उनके कार्य किस तरह चल रहे हैं—अनेक प्राचीन धर्ममतों की तरह इस मत की भी बिना मूल्य ही शिक्षा दी जाती है। जो इस मत का अवलम्बन करते हैं, उनकी स्वेच्छापूर्वक ही दी हुई सहायता से इस कार्य का निर्वाह होता है।

प्राच्य वेषभूषा से शोभायमान स्वामीजी की आकृति अतीव

मनोहर थी । संन्यास के विषय में लोगों की साधारणतः जो धारणा होती है, स्वामीजी का सरल और सहृदय व्यवहार देखकर वह नहीं होती । वे स्वभावतः ही प्रियदर्शन हैं । ऐसी प्रियदर्शिता के साथ उनका उदारभाव, अंग्रेजी भाषा पर असाधारण प्रभुत्व, वार्तालाप की अद्भुत शक्ति आदि ने उनको और भी अधिक प्रिय बनाया है । उनके संन्यासव्रत का अर्थ है—नाम, यश, विषय-सम्पद, पदमर्यादा आदि का सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर, अध्यात्म तत्त्वज्ञान का लाभ करने के लिए अविराम चेष्टा करना ।

---

३. भारत और इंग्लैंड

(इण्डिया, लन्दन, १८९६)

अब लन्दन के मौसम * का समय है। स्वामी विवेकानन्द अपने मत तथा दर्शन के प्रेमियों के सम्मुख वक्तृता दे रहे हैं, और उन्हें शिक्षा भी दे रहे हैं। अनेक अंगरेजों का यह मत है, कि यद्यपि फ्रान्स के लोग थोड़ा बहुत धर्म-प्रचार करते हुए देखे जाते हैं परन्तु फिर भी यह काम मुख्यतया इंग्लैंड के ही अधिकार में है। अतएव मैं दक्षिण बेलग्रेविया में स्वामीजी के निवासस्थान पर यह पूछने के उद्देश्य से गया कि भारतवर्ष इंग्लैंड को सम्भवतः और क्या सन्देश भेज सकता है, क्योंकि वैसे तो हम आज तक भिन्न भिन्न विषयों पर भारतवर्ष की इंग्लैंड के प्रति फटकार सुनते ही आये हैं, उदाहरणार्थ होमचार्ज, † एक ही व्यक्ति द्वारा न्याय तथा शासन का संचालन तथा सूडान एवं अन्य देशों पर युद्ध-आक्रमण के आय-व्यय की मीमांसा आदि।

---

* London Season—पाश्चात्य देशों में बड़े बड़े शहर के रहने वाले धनी तथा भद्र परिवार के स्त्री-पुरुष ग्रीष्मकाल में शहर के बाहर चले जाते हैं। जिस समय वे सब शहर में रहते है, उस समय को ही मौसम (Season) कहते है। मई, जून और जुलाई महीने लन्दन के मौसम का समय हैं।

† Home Charge—भारत पर राजसत्ता होने के कारण प्रति वर्ष जो धन इंग्लैण्ड को भेजा जाता है।

स्वामीजी स्थिरता के साथ बोले—" आज जो भारत ने यहाँ पर धर्मप्रचारक भेजा है, यह कोई नई बात नहीं। जब बौद्ध धर्म नवीन उत्साह से अभ्युदित हो रहा था—भारत के चारों ओर के देशों को कुछ शिक्षा देने के लिए भारत के पास जब कुछ था—उस समय सम्राट् अशोक चारों ओर धर्मप्रचारक भेजते थे।"

प्रश्न—" अच्छा, हम क्या पूछ सकते हैं कि भारत ने उस तरह धर्मप्रचारक भेजना क्यों बन्द किया था, और अब फिर क्यों आरम्भ किया है?"

उत्तर—" धर्मप्रचारक भेजने के बन्द करने का कारण यह है कि भारत धीरे धीरे स्वार्थपर हो जाने के कारण इस रहस्य को भूल ही गया था कि—व्यक्ति तथा जाति परस्पर आदान-प्रदान की रीति से ही जीवित रह सकते हैं तथा उन्नति कर सकते हैं। भारत ने सर्वदा संसार को यही एक सन्देश सुनाया है। भारत की वाणी आध्यात्मिक है। अनन्त युग से भारत का एकाधिकार अध्यात्म-भावराज्य में ही रहा है। सूक्ष्म विज्ञान, दर्शन, न्याय—ये ही भारत की निजी सम्पदाएँ हैं। वस्तुतः, हमारा इंग्लैण्ड में धर्मप्रचार-कार्य के लिये आगमन तो, इंग्लैण्ड के भारत में गमन का ही फल स्वरूप है। इंग्लैंड भारत पर विजय प्राप्त करके उस पर शासन कर रहा है, साथ ही उसका जो भौतिक विज्ञान है उसका उपयोग वह अपने हित के लिये कर रहा है तथा हम भारतीयों के लिये भी। भारत ने इस संसार को क्या दिया तथा क्या दे सकता है, इस प्रश्न के सिलसिले

में हमें एक संस्कृत तथा एक अंगरेजी वाक्य की याद आती है। जब कोई मर जाता है तो आप लोग कहते हैं—उसने आत्मा का परित्याग कर दिया (He gave up the ghost) और हम कहते हैं कि उसने शरीर का त्याग किया है। वैसे ही आप लोग कहते हैं कि मनुष्य की आत्मा है; इससे आप लोगों का साधारणतया यही अभिप्राय होता है कि शरीर ही मनुष्य की प्रधान वस्तु है। परन्तु हम लोग कहते हैं कि मनुष्य आत्मा-स्वरूप है—उसकी एक देह है। यद्यपि ये बातें साधारण बोलचाल की हैं, परन्तु इनसे यह पता चल जाता है कि आप की जातीय भावधारा किधर जा रही है। हमारी यह इच्छा हो रही है कि आपको हम शोपेनहावर की भविष्यद्वाणी की याद दिलाएँ। उन्होंने कहा है कि तमोयुग का अन्त होने पर ग्रीक और लैटिन विद्या का उदय होने से यूरोप में जैसा महान परिवर्तन उपस्थित हुआ था वैसा ही भारतीय दर्शनशास्त्र का भी यूरोप में अच्छा परिचय होने पर होगा। प्राच्य तत्त्वों का अन्वेषण प्रबल वेग से अग्रसर हो रहा है। सत्यान्वेषियों के सम्मुख नूतन भावधारा का द्वार उन्मुक्त हो गया है।

प्रश्न—"आप क्या समझते हैं कि अन्त में भारत ही अपने विजेताओं को जीत लेगा?"

उत्तर—"हाँ, भावराज्य में जरूर ऐसा होगा। अब इंग्लैण्ड के हाथ में तलवार है, वह तो अब जड़ जगत् का प्रभु है, जैसे कि अंगरेजों के आगमन से पहिले हमारे मुसलमान-विजेता थे। परन्तु

सम्राट् अकबर तो वास्तव में हिन्दू ही बन गए थे। शिक्षित मुसलमानों से अर्थात् सूफियों से हिन्दुओं को सहसा पृथक् नहीं किया जा सकता। वे गोमांस-भक्षण भी नहीं करते; और बहुत से आचार-व्यवहार ऐसे हैं, जिनमें वे हिन्दुओं का ही अनुसरण करते हैं। उनकी चिन्ता-धारा हिन्दू प्रभाव से विशेष अनुरञ्जित है।"

प्रश्न—"आपके मत में क्या प्रबल प्रतापशाली अंगरेजों की भी वही दशा होगी, जैसी कि मुसलमानों की हुई थी? आज तो वैसी सम्भावना बहुत दूर मालूम होती है।"

उत्तर—"नहीं, नहीं, आपको जितनी दूर मालूम हो रही है, वास्तव में उतनी दूर नहीं है। धार्मिक विषय में अंगरेज और हिन्दुओं में सादृश्य बहुत है। और दूसरे धर्म-सम्प्रदाय के साथ भी हिन्दुओं का ऐक्य है, इस विषय में भी बहुत से प्रमाण हैं। जब किसी अंगरेज शासनकर्ता या किसी सिविल सर्वेन्ट का भारतीय-साहित्य, विशेष कर भारतीय दर्शन के विषय में किंचित्-मात्र भी ज्ञान होता है तो देखा जाता है कि वह ज्ञान ही उनकी हिन्दुओं से सहानुभूति रखने का कारण बन जाता है। उस प्रकार की सहानुभूति दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। और बहुत से पाश्चात्य लोग अभी भी भारतीय भाव को अत्यन्त संकीर्ण—यहाँ तक कि समय समय पर अवज्ञापूर्ण—दृष्टि से देखते हैं; यह कहना कि उसका कारण केवल उनका अज्ञान ही है अनुचित न होगा।"

प्रश्न—"हाँ, यह तो अज्ञान का ही चिह्न है; परन्तु आप

धर्म-प्रचार करने के लिए इंग्लैण्ड में न आकर पहिले ही अमेरिका में पहुँच गए,—इसका क्या कारण है ? ”

उत्तर—“ वह तो एक दैवी घटना मात्र थी; क्योंकि विश्वधर्म-सम्मेलन में हमें शिकागो जाना पड़ा। वह महासम्मेलन लन्दन में न होकर शिकागो में हुआ था, इसलिए हमें भी यहाँ न आकर वहाँ ही जाना पड़ा। परन्तु उस महासम्मेलन का अधिवेशन तो वास्तव में लन्दन में ही होना उचित था। मैसूर के महाराजा तथा अन्य कतिपय सज्जनों ने हमें हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ भेजा था। हम वहाँ तीन साल ठहरे—केवल गत वर्ष ग्रीष्मकाल में वक्तृता देने के लिए यहाँ आए थे, और इस ग्रीष्मकाल में भी आये हैं। अमेरिकानिवासी लोग एक बड़ी जाति हैं; उनका भविष्य भी अतिशय उज्ज्वल है। उनके प्रति हमारी गम्भीर श्रद्धा है; उनमें से हमने बहुत से सहृदय बन्धुओं को प्राप्त किया है। अंगरेजों की तुलना में उनमें कुसंस्कार भी थोड़े हैं,—वे तो सर्व प्रकार के नवीन भावों की परीक्षा करना चाहते हैं; नये होने पर भी उनका आदर करने को वे तैयार हैं। और वे अतिथि-सेवा-परायण भी हैं। थोड़े काल में ही कोई भी वहाँ लोगों का विश्वास-पात्र हो सकता है। हमारे समान आप भी अमेरिका के शहरों में घूमकर वक्तृता दे सकते हैं—सब जगह आपको बन्धु-बान्धव मिलते रहेंगे। हम बोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, बाल्टिमोर, वाशिंगटन, डेसमोनिस, मेमफिस आदि शहरों में तथा और भी अनेक स्थानों में गए थे।

प्रश्न—"और उन सब स्थानों में आपने बहुत से शिष्य भी कर लिए होंगे?"

उत्तर—"हाँ, हमने सब जगह शिष्य कर लिए हैं; परन्तु नूतन सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की; क्योंकि वह हमारे कार्य के अन्तर्गत नहीं है। समाज या समितियाँ तो संसार में पहिले से ही बहुत सी हैं। इसके अतिरिक्त, सम्प्रदाय गठन करने पर उसकी व्यवस्था के लिए योग्य व्यक्तियों की भी आवश्यकता होती है। धन भी आवश्यक होता है, क्षमता भी और योग्य संचालनकर्ता भी, जो प्रधान रूप से कार्य कर सके। प्रायः सभी सम्प्रदाय अधिकार के लिए कोशिश करते हैं; और कभी कभी तो आपस में लड़ाई भी कर बैठते हैं।"

प्रश्न—"तो क्या आपके धर्मप्रचार का संक्षेप में यही मतलब है कि आप सिर्फ सब धर्मों की पारस्परिक तुलनात्मक आलोचना कर उसी का प्रचार करना चाहते हैं?"

उत्तर—"हम तो धर्म के दार्शनिक तत्व का ही प्रचार करना चाहते हैं। धर्मविषयक बहिरंग अनुष्ठानों का जो सार तत्व है, उसी का हम प्रचार करना चाहते हैं। समस्त धर्ममतों का एक मुख्य और एक गौण भाग होता है। उन गौण भागों को छोड़ देने पर जो अवशेष रहता है, उसी को मुख्य भाग माना जाता है, वही सब धर्ममतों की नींव है, और वह सभी धर्ममतों की साधारण सम्पत्ति भी है। सभी धर्ममतों के अन्तराल में वही एकत्व विद्यमान

है। हम उस तत्व को गॉड, अल्लाह, जिहोवा, आत्मा, प्रेम आदि कुछ भी कह सकते हैं। परन्तु वही एक तत्व सब प्राणियों में प्राणरूप से विराजमान है---निकृष्टतम प्राणी से लेकर उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति मनुष्य तक उसी तत्व का विकास है। हम तो केवल उस अधिष्ठानरूप एकत्व की ओर ही सब सम्प्रदायों की दृष्टि विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते हैं। परन्तु इस पाश्चात्यभूमि में केवल पाश्चात्य ही क्यों, सर्वत्र ही लोग उन गौण विषयों की ही ओर अधिक ध्यान देते हुए देखे जाते हैं। धर्म के बाह्य अनुष्ठानों का अवलम्बन करके ही लोग दूसरों को भी अपने समान बनाना चाहते हैं, और आपस में विवाद में प्रवृत्त होकर एक दूसरे को मार भी डालते हैं। भगवद्भक्ति और मानव-प्रीति ही जब जीवन की सारभूत वस्तु है तो फिर इन कलह-विवाद आदि के बारे में रूढ़ शब्द का प्रयोग न करने पर भी, इनको अत्याश्चर्य जनक तो जरूर ही कहना पड़ता है।"

प्रश्न---"हमारी समझ में एक हिन्दू कभी भी दूसरे धर्मावलम्बियों के ऊपर अत्याचार नहीं कर सकता।"

उत्तर---"हाँ आज तक तो नहीं किया। इस संसार में जितनी जातियाँ हैं, उनमें हिन्दू ही सबसे अधिक परधर्मसहिष्णु हैं। हिन्दुओं को गम्भीर धर्मभावापन्न देखकर लोग सोच सकते हैं कि वे ईश्वर में विश्वासहीन नास्तिकों को केवल सहन ही नहीं कर सकते वरन् उन पर अत्याचार भी कर सकते हैं; परन्तु यह बात गलत है; क्योंकि आप देखिए, जैन लोग ईश्वर में विश्वास को भ्रमात्मक

बतलाते हैं; परन्तु आज तक किसी भी हिन्दू ने किसी जैन के ऊपर अत्याचार नहीं किया है। एक मुसलमान जाति ने ही पहले भारत में परधर्मावलम्बी के ऊपर तलवार चलाई है।"

प्रश्न—"इंग्लैण्ड में इस 'मूल एकत्ववाद' का प्रसार कैसा हो रहा है? यहाँ तो आज हजारों सम्प्रदाय विद्यमान हैं?"

उत्तर—"स्वाधीन चिन्ता और ज्ञान की वृद्धि होने पर धीरे धीरे उन सम्प्रदायों का लोप हो जायगा। ये सब सम्प्रदाय गौण विषयों पर ही प्रतिष्ठित हैं, इसलिए वे दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रह सकते। उन सम्प्रदायों का उद्देश्य अर्थात् प्रयोजन सिद्ध हो गया है। वह उद्देश्य यही था कि उन सम्प्रदायों के अन्तर्गत व्यक्तियों की चिन्ता और सामर्थ्य के अनुसार संकीर्ण भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा की जाय। अब उन सब विभिन्न व्यक्तियों के पृथक पृथक समुदायों में जो भेदरूपी दीवारें खड़ी हैं उन्हें तोड़कर हम धीरे धीरे विश्वबन्धुत्व को पहुँच सकते हैं। इंग्लैण्ड में यह काम बड़ी धीमी गति से सिद्ध हो रहा है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि अभी भी उपयुक्त समय उपस्थित नहीं हुआ है। परन्तु फिर भी धीरे धीरे यह भाव प्रसारित हो रहा है। इंग्लैंड भी भारत में इसी कार्य को कर रहा है; इस विषय की ओर हम आपकी दृष्टि आकर्षित करना चाहते हैं। आज भारत में जो जातिभेद है, वह भारत की उन्नति की राह पर रोड़े डाल रहा है, क्योंकि उस जातिभेद के कारण संकीर्णता और भेदबुद्धि का उदय होता है, विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में पृथक्ता

की दीवारें खड़ी हो जाती हैं। परन्तु विचार की उन्नति के साथ ही वे नष्ट भ्रष्ट हो जायँगी।"

प्रश्न—"परन्तु कुछ अंगरेज, जो कि भारत के प्रति अच्छी सहानुभूति रखते हैं और उसके इतिहास से भी परिचित हैं, वे तो जातिभेद को मुख्यतया कल्याणकारी ही समझते हैं। लोग तो अनायास ही अधिक से अधिक पाश्चात्य भावापन्न हो सकते हैं। आप भी तो हमारे बहुत से आदर्शों को जड़वादात्मक कहकर निन्दा करते हैं।"

उत्तर—"हाँ, यह सच है। कोई भी बुद्धिमान पुरुष भारत को इंग्लैंड बनाना नहीं चाहता। शरीर के अन्दर अर्थात् अन्तःकरण में जो चिन्ता-धारा विद्यमान है, उसी से यह शरीर गठित हुआ है। इसी तरह समग्र जाति भी जातीय चिन्ता का विकास मात्र है। और भारत में वह हजारों वर्षों की चिन्ता का विकास स्वरूप है। इसलिए भारत को पाश्चात्य भावापन्न करना एक असम्भव बात है; और वैसी कोशिश करना भी निर्बुद्धिता का ही कार्य है। चिरकाल से भारत में सामाजिक उन्नति की सामग्री स्पष्टरूप से विद्यमान थी। जब कभी शान्तिपूर्ण राज्यव्यवस्था स्थापित होती थी, उसी समय उसके अस्तित्व का परिचय पाया जाता था। उपनिषदों के समय से लेकर वर्तमान काल तक के हमारे सारे बड़े बड़े आचार्यों ने इस जातिभेद की बाधा को तोड़ने की कोशिश की है। अवश्य, उन्होंने मूल जातिभेद का नाश नहीं चाहा, परन्तु उन्होंने सिर्फ मूल जाति-भेद के विकृत तथा अवनत भाव को ही हटाने का प्रयास किया था।

प्राचीन जातिविभाग में बहुत सुन्दर सामाजिक व्यवस्था थी। वर्तमान जातिभेद के भीतर भी आप जो कुछ अच्छा देख रहे हैं वह भी उस प्राचीन जातिविभाग से ही प्राप्त है। भगवान बुद्ध ने जातिविभाग को फिर वह प्राचीन मौलिक आकार देने की इच्छा की थी। इस तरह जब कभी भारत की जागृति हुई है, तब उसने उस विकृत जातिभेद को तोड़ने का वारम्बार प्रबल प्रयत्न किया है। परन्तु यह कार्य चिरकाल हमें ही करना पड़ेगा। प्राचीन भारत की परिणति तथा क्रमविकास के अनुसार नवीन भारत का गठन हमें ही करना होगा। जो कुछ वैदेशिक भाव हमें उस कार्य में सहायता करेगा, चाहे वह कहीं से भी मिले, हम उसका स्वागत करके उसे अपनाएँगे। दूसरे कोई भी हमारे लिये इस कार्य को नहीं कर सकते हैं। समस्त उन्नति व्यक्ति या जाति के भीतर से ही होनी चाहिए। इंग्लैंड सिर्फ भारत को उसकी इस आत्मोद्धार की साधना में कुछ मदद पहुँचा सकेगा—बस इतना ही और कुछ नहीं। हमारे मत में तो यह है कि यदि दूसरा कोई बलपूर्वक भारत की गर्दन पकड़ कर उसकी उन्नति करना भी चाहें तो उससे कुछ लाभ न होगा। गुलाम की मनोवृत्ति से किये हुए सर्वोत्तम कर्तव्य के अनुष्ठान से भी अवनति की ही प्राप्ति होती है।"

प्रश्न—"क्या आपने कभी भारतीय राष्ट्रीय महासमिति (Indian National Congress) के आन्दोलन की ओर भी ध्यान दिया है?"

उत्तर—"उस विषय में हमने विशेष ध्यान दिया है, ऐसा

नहीं कह सकते। हमारा कर्मक्षेत्र तो दूसरे विभाग में है। परन्तु उस आन्दोलन द्वारा भविष्य में हम विशेष शुभ फल की आशा करते हैं; और उसकी सिद्धि के लिए हार्दिक प्रार्थना भी करते हैं। उसके द्वारा भारत की विभिन्न छोटी छोटी जातियों की एक वृहत् जाति या नेशन (Nation) गठित हो रही है। हमें कभी कभी ऐसा मालूम होता है कि यूरोप के भिन्न भिन्न देशों की अपेक्षा भारत में अधिक विभिन्न जातियाँ नहीं हैं। अतीत में यूरोप की भिन्न भिन्न जातियों ने भारतीय वाणिज्याधिकार का लाभ उठाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया; और यह भारतीय वाणिज्य ही संसार की सभ्यता के विस्तार में एक प्रबल शक्ति स्वरूप हुआ है। इस भारतीय वाणिज्या-धिकार की प्राप्ति ही मनुष्य जाति के इतिहास में एक प्रकार से भाग्यचक्र में परिवर्तन लानेवाली घटना कही जा सकती है। हम देखते हैं कि डच, पोर्तुगीज़, फ्रान्सीसी और अंगरेज़ क्रम से उस अधिकार की प्राप्ति के लिए कोशिश करते रहे। यह भी कहा जा सकता है कि वेनिसनिवासियों ने प्राच्य देशों में वाणिज्याधिकार में क्षतिग्रस्त होने के कारण सुदूर पाश्चात्य प्रदेश में इस क्षति-पूर्ति की जो चेष्टा की उसी से अमेरिका का आविष्कार हुआ है।".*

---

* वेनिस यूरोप के साथ प्राच्य देशीय वाणिज्य का एक प्रधान केन्द्र था। तुरकों ने वेनिस-निवासियों का प्राच्य देशों में गमनागमन का मार्ग बन्द कर देने पर, अन्य किसी मार्ग का अवलम्बन करके भारत, जापान प्रभृति स्थानों में पहुँचने का प्रयत्न किया गया था। भारत में पहुँचने के लिए इस प्रकार मार्गान्वेषण का ही फल यह हुआ था कि भाग्यवश अमेरिका का आविष्कार हो गया।

प्रश्न—" इसकी परिणति क्या होगी ? "

उत्तर—" भारत में साम्यभाव की स्थापना में ही इसकी परिणति अवश्य होगी। सम्पूर्ण भारतीयों के व्यक्तिगत समान अधिकार लाभ में ही इसकी परिणति होगी। ज्ञान केवल कुछ शिक्षित व्यक्तियों की ही एकाधिकार सम्पत्ति न रहेगा। वह समाज के उच्च स्तर से धीरे धीरे निम्नतम स्तर तक पहुँच जायगा। आम जनता की शिक्षा के लिए प्रयत्न किया जा रहा है; भविष्य में विधान के बल से सबको शिक्षा दी जायगी। भारतीय साधारण जनता में विद्यमान अथाह कार्यकारी शक्ति को काम में लाना है। भारत के हृदय में गम्भीर शक्ति निहित है—उसको जगाना है। "

प्रश्न—" क्या प्रबल युद्ध-कुशल जाति न होकर भी कभी किसी जाति को श्रेष्ठ पदवी मिलती हुई देखी गई है ? "

स्वामीजी ने क्षणमात्र के लिए भी इतस्ततः न करके तुरन्त उत्तर दिया—" हाँ, समरनिपुण न होने पर भी चीन की उन्नति होती हुई देखी गई है। अन्यान्य देशों में से हमने चीन और जापान में भी भ्रमण किया है। आज चीन की दशा एक बिखरे हुए दल के समान होने पर भी जब उसकी उन्नति का समय था, तब उसके समान सुश्रृंखलायुक्त समाज-व्यवस्था दुनिया में और कहीं भी न थी। आज हम जिन विषयों को आधुनिक समझते हैं, वे तो चीन देश में सौ क्यों, हजारों साल पहले से ही प्रचलित थे। उदाहरण के लिए बड़ी बड़ी नौकरियों के लिए परीक्षाओं (Competitive Examinations) को ही लीजिए। "

प्रश्न—" फिर आज चीन की इस प्रकार विशृंखल दशा क्यों हो गई ? "

उत्तर—" इसलिए कि चीन अपनी सामाजिक प्रणाली के अनुरूप व्यक्ति निर्माण न कर सका। आप में भी तो यह बात प्रसिद्ध ही है कि 'पार्लमेन्ट के विधान-बल से मनुष्यों को धार्मिक नहीं बनाया जा सकता।' चीनी लोग आपसे बहुत पहिले ही इस तत्व को सक्रियरूप से जानते और मानते थे। इसीलिए राजनीति की अपेक्षा धर्मनीति की अधिक उपकारिता है, क्योंकि धर्म विषयों के मूल तक पहुँचता है और मनुष्यों की समस्त चेष्टा के मूल कारण के बारे में ही अन्वेषण करता है। "

प्रश्न—" आप जो भारत की जागृति के विषय में कह रहे है उस विषय में भारत क्या सचेत है ? "

उत्तर—" सम्पूर्ण सचेत है। शायद आज दुनिया केवल काँग्रेस आन्दोलन में या समाज-सुधार-क्षेत्र में ही जागरण का अनुभव करती होगी, परन्तु यद्यपि धीरे धीरे कार्य चल रहा है, तो भी धर्म के क्षेत्र में भी वास्तविक जागृति हो रही है। "

प्रश्न—" पाश्चात्य और प्राच्य देश के आदर्शों में बड़ी विभिन्नता है। पाश्चात्य का आदर्श मानो सामाजिक स्थिति को पूर्ण करना ही है; और हम इस समय इन्हीं समस्याओं के समाधान में लगे हुए हैं जबकि दूसरी ओर प्राच्यनिवासी सूक्ष्म तत्वों के ध्यान में अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं। यहाँ तो पार्लमेन्ट का काम इतना ही है कि सूडान की लड़ाई में भारतीय सैन्य के व्ययभार को किसके

सिर पर लादा जाय बस यही विचारविनिमय करते रहना, क्योंकि रक्षणशील सम्प्रदाय (Conservative Party) के सारे शिष्ट संवाद-पत्र सरकार के इस अन्याय सिद्धान्त के विरोध में बहुत जोर से आन्दोलन कर रहे हैं। परन्तु इस समय आप शायद सोच रहे होंगे कि यह विषय बिलकुल ध्यान देने योग्य नहीं है।"

स्वामीजी सामने पड़े हुए अखबारों को लेकर रक्षणशीलों के पत्र से संक्षिप्त उद्धृतांशों को देकर बोले—"परन्तु इस विषय में आपकी समझ गलत है। इस विषय में हमारी सहानुभूति अपने देश के साथ ही रहेगी यह तो स्वाभाविक ही है। परन्तु यहाँ हमें एक संस्कृत कहावत की याद आ रही है—'विक्रीते करिणि किमंकुशे विवादः' अर्थात् हाथी को तो बेच ही डाला, अब अंकुश के ऊपर क्या विवाद करना है? भारत तो चिरकाल से ही देता आ रहा है। राजनीतिज्ञों का विवाद बड़ा अद्भुत हुआ करता है। राजनीति में धर्म का प्रवेश कराने के लिए बहुत समय की अपेक्षा है।"

प्रश्न—"तो भी, उस कार्य के लिए अभी से कोशिश भी तो करनी चाहिए?"

उत्तर—"हाँ, सारे संसारभर में यह लन्दन नगरी सब से बड़ा शासनयन्त्र है। इसीलिये उसके हृदय में भाव-बीज को बोना आवश्यक है। हम दीर्घकाल तक इसकी कार्यपद्धति का पर्यवेक्षण करते रहे हैं—कैसी तेजी से और कैसी पूर्णता से इसकी भावधारा सूक्ष्मतम नस नस तक पहुँच रही है! इसका भाव-विस्तार, इसकी चारों ओर शक्ति का संचालन करने की शैली कैसी सुन्दर है!

इसको देखने से समग्र साम्राज्य की बृहत्ता तथा इसके कार्य की महत्ता का अनुमान हो सकता है। अन्यान्य विषयों के विस्तार के साथ साथ यह शासनयंत्र भावों का भी विस्तार किया करता है। इस महान यन्त्र के अन्तस्तल में कुछ भावों के प्रवेश कराने की बड़ी जरूरत है जिससे कि दूर दूर तक भी उनका प्रचार हो सके।"

स्वामीजी की बाह्य आकृति विशेषत्वपूर्ण है। उनका लम्बा चौड़ा सुन्दर सुडौल शरीर और उस पर प्राच्य देश की आकर्षक वेश-भूषा उनको और भी अधिक सुन्दर बना देती है।............

जन्म से वे बंगाली हैं तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट हैं। उनकी वक्तृताशक्ति असाधारण है। बिना किसी संक्षिप्त नोट आदि के ही वे किसी भी विषय पर घन्टे-डेढ़ घन्टे तक धाराप्रवाह रूप से वक्तृता दे सकते हैं। एक शब्द के लिए भी उनको कहीं पर रुकना नहीं पड़ता।

सी. एस. बी.

४. इंग्लैंड में भारतीय धर्मप्रचारक का प्रचारकार्य

(लन्दन से प्रकाशित " एको " नामक संवादपत्र, १८९६, से उद्धृत)

स्वामीजी यदि अपने देश में होते तो शायद किसी पेड़ के नीचे या किसी मन्दिर के हाते में ही पड़े रहते, वे स्वदेशी पोशाक पहिनते, और उनका सिर भी मुंड़ा हुआ होता। परन्तु लन्दन में वे ऐसा कुछ भी नहीं करते। हम जब स्वामीजी से मिलने गए तो वे किसी एक साधारण व्यक्ति की नाईं निवास करते हुए देखने में आए। पोशाक अन्यान्य लोगों के समान ही थी; हाँ, इतनी विशेषता जरूर थी कि वे गेरुए रंग का एक लम्बा सा चोगा जरूर पहिनते थे। वे हँसते हुए बोले, " लन्दन की सड़कों में गरीबों के जो छोटे छोटे लड़के घूमते फिरते हैं, वे हमारी पोशाक को बिलकुल ही पसन्द नहीं करते; विशेषकर पगड़ी पहनने पर तो कहना ही क्या! उस पोशाक में हमें देखकर वे जो कुछ कहते हैं वह कहने लायक नहीं। "

मैंने इन भारतीय योगी से प्रार्थना की कि वे अपने नाम के अक्षरों का स्पष्टता से उच्चारण करें।

* * *

प्रश्न—" आप क्या ऐसा समझते हैं कि आजकल असार और गौण विषयों में ही लोगों की दृष्टि अधिक रहती है ? "

उत्तर—" हम तो ऐसा ही समझते हैं। अनुन्नत जातियों एवं पाश्चात्य देश की सभ्य जातियों के अन्तर्गत अल्पशिक्षितों में भी यही भाव देखा जाता है। आपके प्रश्न से यह भी सूचित होता है कि सभ्य तथा धनी व्यक्तियों का भाव अलग अलग होता है, * और सचमुच वैसा है भी। धनी लोग या तो भोग-ऐश्वर्य में डूबे हुए हैं, अथवा अधिक धन बटोरने की चिन्ता में हैं। वे तथा अन्य सांसारिक कर्मों में व्यस्त अधिकांश लोग यही कहते हैं कि धर्म मिथ्या तथा व्यर्थ की चीज़ है और असल में यही उनकी धारणा भी है। यदि कोई धर्म प्रचलित है तो वह देश-प्रेम तथा लोकाचार है। लोग गिरजाघरों को केवल उसी समय जाते हैं जब या तो शादी होती है या किसी की अन्त्येष्टि क्रिया।"

प्रश्न—" आपके प्रचार का फल क्या यह होगा कि लोग धर्मस्थानों में (गिर्जा आदि में) अधिक जाने लगेंगे ? "

उत्तर—" हम ऐसा नहीं समझते; क्योंकि बाह्य अनुष्ठान व मतवाद के साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। धर्म ही मानव जीवन का सर्वस्व है और सभी के भीतर धर्म है—इस तत्त्व का प्रचार करना ही हमारा जीवन-व्रत है। और यहाँ इंग्लैंड में कौन सी

---

* 'सभ्य व्यक्तियों का भाव अलग है' इसका अर्थ है—वे धर्म के गौण भाव को छोड़कर, मुख्य भाव को ग्रहण करते हैं। तथा 'धनी व्यक्तियों का भाव अलग है' का अर्थ है—वे धर्म के मुख्य या गौण किसी भी प्रकार के भाव का विचार नहीं करते, अर्थात् धर्म की नितान्त उपेक्षा करते हैं।

— अनुवादक।

भावधारा चल रही है जानते हो ? यहाँ की हवा की गति को देखकर मालूम होता है कि सोश्यालिज्म * या और किसी प्रकार का लोकतन्त्र, चाहे आप उसको किसी भी नाम से पुकारें, शीघ्र प्रचलित होगा। लोग तो अवश्य ही सांसारिक प्रयोजनीय विषयों की अपनी आकांक्षा मिटाना चाहेंगे। वे तो चाहेंगे कि उनका कर्मभार पहिले से हल्का हो जाय, और उनको अच्छी तरह खाने पीने को मिले, तथा अत्याचार और लड़ाई आदि संसार में बिल्कुल बन्द हो जाय। परन्तु यदि इस देश अथवा अन्य किसी जाति की सभ्यता धर्म एवं मनुष्यों की अन्तर्निहित साधुता की भित्ति पर प्रतिष्ठित न हो तो क्या वह टिक सकेगी ? इस बात को निश्चय जानना कि एक मात्र धर्म ही सब विषयों के मूल तक पहुँचता है। इसलिए यदि वह ठीक है तो सभी कुछ ठीक जानना।"

प्रश्न—"परन्तु धर्म का सार जो दार्शनिक भाव है, उसको तो लोगों की बुद्धि में प्रवेश कराना सहज न होगा, क्योंकि लोग हमेशा जिन विचार और भावों का अवलम्बन करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, उनसे धर्म का सार भाव तो बहुत दूर है।"

उत्तर—"किसी भी धर्ममत के विषय में विचार करने पर देखा जायगा कि लोग प्रथम अवस्था में क्षुद्रतर सत्य का ही अवलम्बन करते हैं; उसी सत्य के बल से उससे भी बृहत्तर सत्य को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए यह कहना कि असत्य को छोड़कर सत्य

* पाश्चात्य देशीय एक प्रबल मत। इसके अनुसार धनी निर्धन, सब की सम्पत्ति इकट्ठी रहे और उस सम्पत्ति में सब के बराबर बराबर अधिकार हों।

का लाभ होता है, गलत है। समस्त सृष्टि के अन्तराल में एक वस्तु विराजमान है। परन्तु मनुष्यों का मन नितान्त भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" "यथार्थ वस्तु एक ही है; ज्ञानी उसका भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन किया करते हैं।" हमारा कहने का मतलब यह है कि लोग संकीर्णतर सत्य से ही व्यापकतर सत्य में पहुँचते हैं। इसलिए अपरिणत अथवा निम्नतम धर्म भी मिथ्या नहीं हैं, वे भी सत्य हैं। परन्तु उनमें सत्य की धारणा या अनुभूति अपेक्षाकृत अस्पष्ट या निकृष्ट है, बस इतना ही। लोगों के ज्ञान का विकास तो धीरे धीरे ही होता है। यहाँ तक कि भूतों की उपासना भी तो उसी नित्य सनातन सत्यस्वरूप ब्रह्म की ही विकृत रूप की उपासना है। धर्म के और भी जो सब रूप हैं उनमें भी किसी न किसी अंश तक सत्य अवश्य विद्यमान है। सत्य किसी भी धर्म-विशेष में पूर्णरूप से विद्यमान नहीं है।"

प्रश्न—"क्या हम पूछ सकते हैं कि आप इंग्लैंड में जिस धर्म का प्रचार करने के लिए आए हैं, वह क्या आप ही के द्वारा उद्भावित नहीं है?"

उत्तर—"नहीं, कदापि नहीं। हम तो श्रीरामकृष्ण परमहंस नामक एक भारतीय महापुरुष के शिष्य हैं। हमारे देश के अनेक महापुरुषों की नाईं वे विशेष पण्डित न होने पर भी, एक अतिशय पवित्रात्मा थे; और उनका जीवन तथा उनके उपदेश वेदान्तदर्शन के भाव से ही विशेष रूप से अनुरंजित थे। हमने 'वेदान्त-दर्शन' शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु उसे 'धर्म' भी कहा जा सकता

है; क्योंकि वास्तव में वह धर्म भी है और 'दर्शन' भी। हाल ही में; नाइन्टीन्थ सेन्चुरी' नामक पत्र के एक अंक में मैक्समूलर ने हमारे गुरुदेव के विषय में जो विवरण प्रकाशित किया है, उसे आप कृपया देखिए। सन् १८३६ ई. में बंगाल के हुगली नामक जिले में भगवान श्रीरामकृष्ण का जन्म हुआ और सन् १८८६ में उनकी मानवलीला समाप्त होगई। केशवचन्द्र सेन तथा अन्यान्य प्रसिद्ध व्यक्तियों पर भी उनका प्रबल प्रभाव पड़ा था। शरीर और मन के संयम के अभ्यासबल से उन्होंने आध्यात्मिक विषयों में गम्भीर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर ली थी। उनके मुख का भाव साधारण मनुष्यों की भाँति न था। उस पर तो बालक की नाईं कमनीयता, गम्भीर नम्रता और अद्भुत प्रशान्ति तथा मधुरता सदा विराजमान रहती थी। उनका श्रीमुख देखने पर कोई भी आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता था।"

प्रश्न—"तब तो मालूम होता है, आपके उपदेशों का मूल वेद ही हैं?"

उत्तर—"हाँ, वेदान्त शब्द का तो अर्थ ही वेदों का शेष भाग है। वेदान्त वेदों के तीसरे भाग का नाम है। उसको उपनिषद भी कहा जाता है। प्राचीन भाग में जो भाव बीजाकार में स्थित हैं वे ही उत्तर भाग में अर्थात् उपनिषदों में पूर्णता प्राप्त किए हैं। वेदों के अति प्राचीन भाग का नाम संहिता है। उसकी भाषा भी अतिशय प्राचीन युग की संस्कृत है। यास्क मुनि कृत निरुक्त नामक अति प्राचीन संस्कृत कोष की सहायता से ही उस संहिता का अर्थ-बोध हो सकता है।"

प्रश्न—" हम अंगरेज तो बल्कि ऐसा समझते हैं कि भारत को हमसे बहुत कुछ शिक्षा लेनी है; परन्तु हम अंगरेजों को भी भारत से सीखने योग्य कुछ है, यह विचार हमारी साधारण जनता भ्रान्ति से भी नहीं कर सकती।"

उत्तर—" हाँ, यह बात सत्य है। परन्तु पण्डित लोग तो इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि भारत से कहाँ तक शिक्षा मिल सकती है; और वह कहाँ तक प्रयोजनीय है। आप देखेंगे कि मैक्समूलर, मोनियर विलियम्स, सर विलियम हन्टर या जर्मनी के प्राच्य तत्त्ववित् पण्डित कभी भी भारतीय सूक्ष्म तत्त्वविज्ञान की अवज्ञा नहीं करते।"

* * * *

स्वामीजी ३९ नं. विक्टोरिया स्ट्रीट के मकान में वक्तृता दिया करते हैं। कोई भी आकर सुन सकता है। वहाँ आने में किसी को किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं है। और प्राचीन प्रेरितगणों के युग * की नाईं वे भी निःशुल्क ही अलौकिक तत्त्व का उपदेश प्रदान करते हैं। इस भारतीय धर्मप्रचारक की देह की गठन भी असाधारण सुन्दर है। अंगरेजी भाषा पर उनका सम्पूर्ण प्रभुत्व है, यह कहना नितान्त सत्य होगा।

सी. एस. बी.

---

* Apostolic Age—वह समय, जब Apostles (ईसा मसीह के बारह शिष्य) अर्थात् प्रेरितगण और उनके शिष्य धर्मप्रचार के कार्य में नियुक्त थे।

५. स्वामी विवेकानन्द जी के साथ मदुरा में एक घण्टा

(हिन्दू, मद्रास, फरवरी १८९७)

प्रश्न—" हम जहाँ तक जानते हैं, ' जगत मिथ्या ' इस मत की व्याख्या निम्नलिखित प्रकारों से होती है—

(१) अनन्त वस्तुतत्त्व की तुलना में नश्वर नामरूपों का स्थायित्व इतना क्षुद्र एवं अल्प है कि कहा नहीं जा सकता।

(२) दो प्रलयों के मध्यवर्ती स्थिति-काल की भी अनन्त की तुलना में उसी प्रकार क्षणमात्रता और नश्वरता ही है।

(३) शुक्ति में जैसे रजतज्ञान व रज्जु में सर्पज्ञान भ्रमदशा में सत्य भासता है और वह ज्ञान मन की किसी अवस्थाविशेष पर निर्भर रहता है, वैसे ही वर्तमान में अनुभूत इस जगत की भी आपातप्रतीयमान एक सत्यता है, और यह सत्यता-ज्ञान भी मन की अवस्थाविशेष पर निर्भर रहता है, किन्तु परमार्थतः (परिणाम में) वह मिथ्या है।

(४) वन्ध्यापुत्र या शशशृंग जिस प्रकार मिथ्या है यह जगत भी उसी प्रकार मिथ्या, छायामात्र है।

इन भावों में से अद्वैत दर्शन के अनुसार ' जगत मिथ्या ' का तात्पर्य किससे है ? "

उत्तर—" अद्वैतवादियों में अनेक भेद हैं। परन्तु, इनमें से प्रत्येक उपरोक्त मतों में से किसी न किसी एक के सहारे अद्वैतवाद को समझाता है। परन्तु आचार्य शंकर ने तृतीय मतानुसार शिक्षा दी है। उनके कथनानुसार यह जगत हमारे सम्मुख जिस भाव से प्रतिभासित हो रहा है वह हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में व्यावहारिक भाव से सत्य है, परन्तु जब मनुष्य का ज्ञान उच्चभूमि में पहुँचता है तो उसी समय यह सम्पूर्णतया अन्तर्हित हो जाता है। आपके सम्मुख एक ठूँठ को देखकर अंधेरे में आपको भूत की भ्रान्ति हो गई, तो उस काल के लिए आपका भूतज्ञान सत्य ही होता है, क्योंकि यथार्थ भूत के कारण आपके मन में जो विकार होना था और उसका जो फल होना था इस ज्ञान से भी सब कुछ वैसा ही हो रहा है। आप जैसे ही समझ लेंगे कि वह केवल एक ठूँठ है तो उसी समय आपका भूतज्ञान चला जायगा। ठूँठज्ञान और भूतज्ञान दोनों एक साथ ठहर नहीं सकते। जब उनमें से एक ज्ञान रहेगा, तब दूसरा नहीं रह सकता।"

प्रश्न—" आचार्य शंकर के कई ग्रन्थों में चतुर्थ मत को भी स्वीकार नहीं किया गया है?"

उत्तर—" नहीं; आचार्य के 'जगत् मिथ्या' उपदेश का मर्म ठीक ठीक ग्रहण करने में असमर्थ होने के कारण कोई कोई व्यक्ति वैसी अतिशयोक्ति कर बैठते हैं। उन्होंने ही अपने ग्रन्थों में उस चतुर्थ पक्ष का समर्थन किया है। वैसे तो प्रथम और द्वितीय पक्ष का ग्रहण किसी किसी श्रेणी के अद्वैतवादियों द्वारा होने पर

भी आचार्य शंकर ने उनके मत का अनुमोदन कभी नहीं किया।"

प्रश्न—"इस प्रकार आभास-सत्य के रूप में प्रतीति होने का क्या कारण है?"

उत्तर—"ठूँठ में जो भूत का भ्रम होता है, उसका कारण क्या होता है? जगत् सर्वदा एकरूप ही विद्यमान है, परन्तु आपका मन ही उसमें अनेकानेक विचित्र अवस्थाओं की सृष्टि कर रहा है।"

प्रश्न—"'वेद अनादि अनन्त हैं' इस कथन का क्या तात्पर्य है? यह बात क्या वैदिक मंत्रों के विषय में है? और यदि वेद-मन्त्र में विद्यमान सत्यमात्र को ही लक्ष्य करके वेदों के अनादि-अनन्तता का कथन होगा तो न्यायशास्त्र, ज्यामिति, रसायन आदि शास्त्र भी तो अनादि-अनन्त होंगे, क्योंकि उनमें भी तो सनातन सत्य विद्यमान है।"

उत्तर—"एक समय ऐसा था जब कि वेद स्वयं अनादि तथा अनंत समझे जाते थे और वह इस रूप में कि 'उनके अन्तर्गत आध्यात्मिक तत्व अपरिवर्तनशील तथा सनातन हैं, केवल, मनुष्य को अभिव्यक्त हुए हैं।' ऐसा मालूम होता है कि उत्तरकाल में अर्थज्ञान के सहित वैदिक मंत्रों का ही प्राधान्य हो गया था, जिससे कि इन मंत्रों को ही ईश्वरप्रसूत मानकर लोग विश्वास करने लगे। उससे भी आगे चलकर मंत्रों के अर्थ से ही मालूम होने लगा कि उनमें बहुत से ऐसे मंत्र हैं जो ईश्वरप्रसूत नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि वे मानव जाति को—प्राणिमात्र को पीड़ा पहुँचाने के लिए अनेक प्रकार के अशुद्ध कर्मों का विधान करते हैं। और उनमें से

कुछ मंत्रों में तो हास्यास्पद कथाएँ भी वर्णित हैं। 'वेद अनादि अनन्त हैं' इस बात का तात्पर्य यही है कि उनके द्वारा मनुष्यों के लिए जिस विधि या सत्य का प्रकाश किया गया है वह नित्य और अपरिणामी है। न्याय, ज्यामिति, रसायन प्रभृति शास्त्र भी मनुष्यों के लिए नित्य अपरिणामी नियम या सत्य का प्रकाश करते हैं और इस दृष्टि से वे भी अनादि अनन्त हैं। परन्तु इस संसार में ऐसा कोई सत्य या विधि है ही नहीं जो वेदों में न हो। हम आप सब को आह्वान करते हैं कि आप ऐसे सत्य को दिखायें जिसकी व्याख्या वेदों में न हो।"

प्रश्न—"अद्वैतवादी की दृष्टि में मुक्ति का स्वरूप कैसा है? हमारे पूछने का तात्पर्य यह है कि क्या उनके मत में मुक्तिदशा में भी ज्ञान रहता है? अद्वैतवादियों की मुक्ति और बौद्धों का निर्वाण—इनमें क्या कुछ भेद है?"

उत्तर—"मुक्ति में भी एक प्रकार का ज्ञान रहता है, जिसको हम 'तुरीयज्ञान' या 'ज्ञानातीत अवस्था' कहते हैं। उस ज्ञान के साथ हमारे वर्तमान ज्ञान का बहुत भेद है। मुक्ति की अवस्था में किसी प्रकार ज्ञान नहीं रहता, यह कहना युक्ति-विरुद्ध है। आलोक की नाईं ज्ञान में भी तीन अवस्थाएँ होती हैं, जैसे—मृदु (Dull) ज्ञान, मध्यम (Mediocre) ज्ञान और अत्यन्त (Intense) ज्ञान। जब आलोक-परमाणुओं का स्पन्दन अतिशय प्रबल होता है, तब उससे प्रकाश इतना तीव्र हो जाता है कि उसकी

उज्ज्वलता से आँखें चकाचौंध हो जाती हैं—और अति क्षीण प्रकाश में जिस प्रकार कुछ दिखाई नहीं देता उसी प्रकार इसमें भी कुछ दिखाई नहीं देता। ऐसा ही ज्ञान के विषय में भी है। बौद्ध लोग जो कुछ भी कहें, उनके निर्वाण में भी इस प्रकार का ज्ञान विद्यमान है। हमारी मुक्ति की व्याख्या अस्ति-भावात्मक है, बौद्धों की निर्वाण की व्याख्या नास्ति-भाव की द्योतक है।"

प्रश्न—"अवस्थातीत होते हुए भी ब्रह्म जगत् की सृष्टि के लिए अवस्थाविशेष का आश्रय क्यों लेते हैं?"

उत्तर—"आपका यह प्रश्न ही अयौक्तिक है और सम्पूर्ण न्यायशास्त्र के विरुद्ध है। ब्रह्म तो 'अवाङमनसोगोचरम्' अर्थात् वाणी या मन का विषय नहीं है। जो वस्तु देश-काल-निमित्त स परे होती है, उसको मानव-बुद्धि कभी अपना विषय नहीं कर सकती। आर जहाँ तक देश-काल-निमित्त का राज्य है, वहीं तक युक्ति या अनुसन्धान का अधिकार है। जब ऐसा ही है तब जिस विषय की मनुष्य-बुद्धि द्वारा धारणा होना ही असम्भव है, उसके सम्बन्ध में जानने की इच्छा वृथा चेष्टा मात्र है।"

प्रश्न—"देखने में तो ऐसा आता है कि किसी किसी के मतानुसार पुराणों के ऊपरी अर्थ के पीछे गुह्य अर्थ विद्यमान है। वे कहते हैं कि पुराणों में उन गुह्य रहस्यों का ही आख्यायिका रूप से अर्थात् रूपक की सहायता से वर्णन किया गया है। और कोई कोई ऐसा कहते हैं कि पुराणों में ऐतिहासिक सत्यता कुछ भी नहीं है—

उच्चतम आदर्शों को समझाने के लिए पुराणकर्ताओं ने उन काल्पनिक चरित्रों की सृष्टि की है, बस इतना ही। दृष्टान्त के लिए विष्णुपुराण, रामायण या महाभारत की बात लीजिए। अब प्रश्न यह है कि, क्या वास्तव में उनमें कुछ ऐतिहासिक सत्य है, या वे केवल दार्शनिक सत्यों का रूपकवर्णन मात्र हैं, अथवा मानव जाति के चरित्र को नियमित करने के लिये उच्चतम आदर्शसमूह के ही वे दृष्टान्त हैं, अथवा मिल्टन, होमर आदि कवियों के द्वारा रचित कार्यों की नाईं वे भी केवल उच्चभावात्मक काव्य मात्र है?"

उत्तर—"कुछ न कुछ ऐतिहासिक सत्य तो ज़रूर सारे पुराणों की भित्ति है। पुराणों का लक्ष्य तो विभिन्न भावों से परम सत्य की शिक्षा देना ही है। और यदि उनमें कहीं कुछ ऐतिहासिक सत्य न भी हों, तो भी वे जिस उच्चतम सत्य का उपदेश देते हैं, उसकी दृष्टि से भी वे हमारे लिए परम प्रमाणस्वरूप हैं। दृष्टान्त रूप एक रामायण को ही लीजिये—अनुल्लंघनीय प्रमाण-ग्रन्थ रूप से उसको स्वीकार करने के लिए, श्रीरामचन्द्र जैसे किसी एक व्यक्ति की ऐतिहासिक सत्यता को भी अवश्य स्वीकार करना ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं। रामायण या महाभारत में जिस धर्म की महिमा घोषित है वह राम या कृष्ण के अस्तित्व-नास्तित्व की अपेक्षा नहीं रखती। इसलिए इनके अस्तित्व में विश्वासी न होने पर भी रामायण और महाभारत के द्वारा मानव जाति के लिए जिन महान् तत्त्वों का उपदेश किया गया है, उस विषय में इन ग्रंथों का उच्च प्रामाण्य अवश्य स्वीकृत करना चाहिए। हमारा कोई भी दर्शन अपनी सत्यता

की सिद्धि के लिए किसी व्यक्तिविशेष पर निर्भर नहीं है। देखिए श्रीकृष्ण भगवान ने संसार के सामने किसी भी नये या मौलिक तत्त्व की स्थापना नहीं की, वैसे ही रामायणकार ने भी कभी कोई ऐसी बात नहीं कही जो हमारे वेदादि शास्त्रों में बिल्कुल उपदिष्ट न हो। वैसा दावा वे कभी नहीं करते। इस विषय में यह विशेष ध्यान रखना कि ईसाई धर्म ईसा के बिना, इस्लाम धर्म मुहम्मद के बिना और बौद्ध धर्म बुद्ध के बिना रह ही नहीं सकता, परन्तु हिन्दूधर्म ही एक ऐसी चीज़ है, जो कि किसी व्यक्तिविशेष पर बिल्कुल निर्भर नहीं है। और यदि इस बात का विचार करना हो कि पुराण में वर्णित दार्शनिक सत्य कहाँ तक प्रमाण-युक्त हैं, तो उसमें वर्णित व्यक्ति वास्तव में थे, अथवा वे केवल काल्पनिक चरित्रमात्र हैं, यह चर्चा अनावश्यक है। पुराणों का उद्देश्य था, मानव जाति को शिक्षा देना और जिन ऋषियों ने उन पुराणों की रचना की है वे कुछ ऐतिहासिक चरित्र लेकर अपनी इच्छानुसार उन पर कुछ अच्छे या बुरे गुणों का आरोप करते थे। वे मानव जाति के परिचालन के लिए इसी प्रकार धर्म-विधान कर गये हैं। रामायण में वर्णित दश-मुख रावण के अस्तित्व के बारे में ऐसी बात नहीं है कि हमें वास्तव में एक वैसे दस मुण्ड वाले राक्षस को मानना ही पड़ेगा। ऐसा नहीं है। असल में दस मुख वाला कोई रहा हो या न सही, हमें तो उस चरित्र के सहारे सिर्फ शिक्षा दी गई है जो हमारे लिये विशेष विचारणीय तथा आदरणीय है। इस काल में आप श्रीकृष्ण का और भी आकर्षक वर्णन कर सकते हैं—और यह वर्णन

आपके आदर्श की उच्चता के अनुरूप होगा, परन्तु पुराणों में वर्णित महोच्च दार्शनिक सत्यसमूह सर्वदा एक ही स्वरूप का होता है।"

प्रश्न—"यदि कोई व्यक्ति Adept (सिद्ध) हो जाय, तो क्या वह अपने पूर्व पूर्व जन्मों की घटनाओं को याद कर सकता है? पूर्व जन्म का उसका जो स्थूल मस्तिष्क था जिसमें उसकी पूर्वानुभूति के संस्कारों का समावेश था, वह तो अब उसे प्राप्त नहीं है। इस जन्म में तो उसने दूसरे नये मस्तिष्क को प्राप्त कर लिया है; फिर इस प्रकार की स्थिति में 'वर्तमान मस्तिष्क' से वर्तमान में अविद्यमान अपर यन्त्र के द्वारा गृहीत संस्कारसमूह को याद करना कैसे सम्भव है?"

स्वामीजी—"Adept (सिद्ध) शब्द से आपका क्या अर्थ है?"

संवाददाता—"जिसने अपनी 'गुह्य' शक्ति का 'विकास' कर लिया वही सिद्ध है।"

स्वामीजी—"हम नहीं समझते हैं कि 'गुह्य' शक्ति किस तरह 'विकास-प्राप्त' होगी। आपके मतलब को हम समझ रहे हैं, परन्तु हमारी विशेष इच्छा यह है कि हमें जिन जिन शब्दों का प्रयोग करना है, उन शब्दों के अर्थ के विषय में कुछ भी अनिर्दिष्टता या अस्पष्टता की छाया न रहे। जहाँ जो शब्द ठीक ठीक उपयोगी हो, वहाँ वही शब्द प्रयोग किया जाय। आप कह सकते हैं कि 'गुह्य' या 'अव्यक्त' शक्ति 'व्यक्त' या 'निरावरण' होती है। जिनकी

अव्यक्त शक्ति व्यक्त हुई है वे अपने पूर्व जन्मों की घटनाओं की याद अनायास ही कर सकते हैं, क्योंकि मरने के बाद जो सूक्ष्म या लिंग शरीर रहता है, वही उनके वर्तमान मस्तिष्क का बीज स्वरूप है।"

प्रश्न—"अहिन्दू को हिन्दू धर्मावलम्बी करना क्या हिन्दू धर्म के मूलभाव का अविरोधी है? और एक चण्डाल यदि शास्त्र की व्याख्या करे तो क्या ब्राह्मण उसको सुन सकते हैं?"

उत्तर—"अहिन्दू को हिन्दू बनाना हिन्दू-धर्म से कोई विरोधी बात नहीं है। और कोई भी व्यक्ति, वह शूद्र हो या चण्डाल, ब्राह्मणादि तक के सम्मुख दर्शनशास्त्र की व्याख्या कर सकता है। नीच व्यक्ति भी, चाहे वह किसी भी जाति या धर्म का क्यों न हो, उससे सत्य की शिक्षा ली जा सकती है।"

अपने इस मत के प्रमाण रूप स्वामीजी ने बहुत से संस्कृत के श्लोक उद्धृत किये।

यहाँ पर ही आज वार्तालाप बन्द हुआ, क्योंकि स्वामीजी का मन्दिर में जाने का निर्दिष्ट समय होजाने से वे उपस्थित सज्जनों से विदा लेकर देवतादर्शन के लिए मन्दिर में गए।

६. स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप

(भारतेतर देश एवं भारत की विभिन्न समस्याएँ)

('हिन्दू' मद्रास, फरवरी सन् १८९७ ई.)

हमारे एक प्रतिनिधि चिंग्लिपट स्टेशन में स्वामीजी से ट्रेन में मिले और उनके साथ मद्रास तक आए। गाड़ी में उन दोनों के बीच निम्नलिखित वार्तालाप हुआ।

प्रश्न—" स्वामीजी, आप अमेरिका क्यों गए थे ? "

उत्तर—" यह एक कठिन प्रश्न है। संक्षेप में इस प्रश्न का उत्तर देना मुश्किल है। अभी हम आपको इस प्रश्न का केवल एक आंशिक उत्तर दे सकते हैं। भारत में सर्वत्र हमने भ्रमण किया था;— हमने देखा कि भारत में तो काफी भ्रमण हो गया; अब दूसरे देशों को भी देखना चाहिए। हम जापान होकर ही अमेरिका गए थे। "

प्रश्न—" आपने जापान में क्या देखा ? आज जापान उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है। आपकी समझ में क्या यह सम्भव है कि भारत उसका अनुकरण करेगा ? "

उत्तर—" जब तक भारत के तीस करोड़ लोग मिलकर एक जाति में परिणत नहीं होते, तब तक जापान का अनुसरण करने की कुछ भी सम्भावना नहीं है। जापानियों के समान स्वदेश-हितैषी तथा शिल्पनिपुण जाति संसार में दूसरी नहीं दिखती। जापानियों में

और भी यह एक विशेषता है—यूरोप या अन्य स्थानों में देखा जाता है कि एक ओर जैसे शिल्प और कलाकौशल की उन्नति है, वैसे ही दूसरी ओर वहाँ गन्दगी भी है, परन्तु जापानियों में जैसे शिल्पकला का सौन्दर्य है, वैसे ही उनमें साफ-सफाई भी है। हमारी हार्दिक इच्छा है कि हमारे देश के नवयुवक ज़िन्दगीभर में कम से कम एक बार जापान घूम-फिर आयें। वहाँ जाना भी कोई विशेष कठिन नहीं है; और जापानी भी हिन्दुओं के सभी आचरण को अच्छा समझते हैं और भारत को वे अपना तीर्थस्थान समझते हैं। सिंहल का बौद्ध धर्म और जापान का बौद्ध धर्म अत्यन्त पृथक् है। जापान का बौद्ध धर्म वेदान्त से भिन्न नहीं है। सिंहल का बौद्ध धर्म नास्तिकता के दोष से दूषित है, परन्तु जापान में वह आस्तिकता से भूषित है।"

प्रश्न—"जापान अकस्मात् ही कैसे इतना उन्नत हो गया? इसका क्या रहस्य है?"

उत्तर—"जापानियो का आत्मप्रत्यय और स्वदेशप्रेम ही इसका मुख्य कारण है। जब भारत में भी ऐसे व्यक्तियों का जन्म होगा जो कि अपनी जन्मभूमि के लिए सर्वस्व बलिदान करेंगे, जिनके मन और मुँह एक होंगे अर्थात् जो निष्कपट होंगे तभी ऐसी सन्तानों को पाकर भारतमाता फिर सब विषयों में श्रेष्ठ पदवी प्राप्त कर सकेगी। ऐसे मनुष्य ही तो देश को गौरवान्वित करते है। इन्हें छोड़ देश के केवल भूखण्ड में क्या रखा है? सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में जापानी जैसे सच्चे है, तुम भी जब वैसे ही होओगे, तब तुम भी

जापानियों की तरह बड़े हो जाओगे। जापानी लोग अपने देश के लिए सब कुछ निछावर करने को तैयार रहते हैं, और उसीसे वे बड़े बन गए। और तुम? तुम तो कामिनी-कांचन के लिए सर्वस्व त्यागने को प्रस्तुत हो!"

प्रश्न—"आपकी इच्छा क्या ऐसी है कि भारत जापान के समान हो जाय?"

उत्तर—"नहीं, कभी नहीं। भारत तो भारत ही रहेगा। भारत किस तरह जापान अथवा अन्य किसी दूसरी जाति के समान हो सकता है? जैसे संगीत में एक तो मुख्य स्वर होता है तथा अन्य स्वर उसके अनुगत होते हैं वैसे ही प्रत्येक जाति का भी एक एक निजी मुख्य भाव हुआ करता है, अन्यान्य भाव उसी के अनुगत होते हैं। भारत का मुख्य भाव है—धर्म। समाज-संस्कार कहिए, अथवा और कुछ—सभी इस देश में गोण है। कहावत है कि जब हृदय खुलता है तभी भावस्रोत उमड़ता है। अतएव भारतवर्ष का हृदय खुलना चाहिए और उससे अध्यात्म-स्रोत निकल आएगा। भारत तो भारत ही है। हम जापानियों के समान नहीं हैं—हम तो हिन्दू हैं। भारत का वातावरण ही एक अलौकिक शान्ति को प्रदान करता है। हम यहाँ सर्वदा कर्म कर रहे हैं; परन्तु इसी के भीतर हम शान्ति को प्राप्त कर रहे हैं। भारत में धर्मकार्यों का अनुष्ठान करने पर निर्मल शान्ति की प्राप्ति होती है; परन्तु यहाँ सांसारिक धन्धे में फँसने से अन्त में मृत्यु ही होती है—बहुमूत्र के रोग से।"

प्रश्न—" अच्छा स्वामीजी, जापान की बात छोड़ दीजिए। आपने अमेरिका में जाकर पहले क्या देखा ? "

उत्तर—" आरम्भ से अन्त तक हमने अच्छा ही अच्छा देखा। मिशनरी तथा गिर्जाघर की औरतों (Church-women) को छोड़कर शेष सब अमेरिकावाले बड़े अतिथिपरायण, सत्स्वभाव और सहृदय हैं।"

प्रश्न—" स्वामीजी, गिर्जाघर की औरतों का क्या मतलब। "

उत्तर—" अमेरिकन स्त्रियाँ जब विवाह करने के लिए व्याकुल होती हैं तो वे समुद्रों के किनारे स्नान के स्थानों में * घूमती रहती हैं, और किसी पुरुष को पकड़ने के लिए जितना कौशल करना चाहिए—सब कुछ करती हैं। सारी चेष्टा जब निष्फल हो जाती है तब वे चर्च में शामिल हो जाती हैं। तब उनको वहाँ 'ओल्ड मेड' कहते हैं। उनमें कोई कोई तो चर्च की बेहद कट्टर भगतिन बन जाती हैं। वे भयंकर तआस्सुबी होती हैं। वे पुरोहितों के आधीन रहती हैं, पुरोहितों के साथ मिलकर वे संसार को नरक में परिणत करती हैं और धर्म को तो खेल-तमाशे की वस्तु बना डालती हैं। इन्हें छोड़, अमेरिकन लोग बहुत अच्छे हैं। अमेरिकन

---

* अमेरिका में समुद्रतट के अच्छे अच्छे स्वास्थ्यप्रद स्थानों में नहाने के लिए अच्छी व्यवस्था की गई है। धनी लोग जलवायु-परिवर्तन के लिए कभी कभी वहाँ पर आकर ठहरते हैं। इन स्थानों में ही धनी लोगों के लड़के-लड़कियों को अमोद प्रमोद करने का मौका मिलता है। बहुतों का तो वहीं भावी विवाह निश्चय हो जाता है।

लोग हमसे बहुत प्यार करते थे। और हम भी उनको बहुत प्यारे मानते हैं। हम मानो उन्हीं में से एक हैं—ऐसा मालूम होता था।"

प्रश्न—"आपकी राय में शिकागो नगर की धर्म-महासभा के अनुष्ठान से क्या फल हुआ है?"

उत्तर—"हमारी धारणा है कि उस महासभा का उद्देश्य था—जगत् के सम्मुख अ-क्रिश्चियन धर्मों को हीन ठहराना। परन्तु फल तो विपरीत ही हो गया। अ-क्रिश्चियन धर्म ही प्रधान और क्रिश्चियन धर्म ही हीन ठहर गया। इसलिए ईसाइयों की दृष्टि में उस सभा का उद्देश्य असफल रहा। देखिए न अभी फिर पैरिस में और एक धर्म-महासभा बुलाने की बात हो रही है; परन्तु रोमन कैथलिक लोग, जो कि शिकागो धर्म-महासभा के संचालक थे, वे ही अब इस कोशिश में लगे हुए हैं कि पेरिस में उस धर्म-महासभा का अनुष्ठान न हो सके। पर शिकागो-सभा के द्वारा भारतीय विचार-धारा के विशेष विस्तार होने की सुविधा हुई है। इससे विश्व को वेदान्त के सिद्धान्तों द्वारा आप्लावित करने में सहायता मिली। अब सारी दुनिया वेदान्त की धारा में बह रही है। अवश्य ही शिकागो-सभा के इस परिणाम से अमेरिकानिवासी बहुत प्रसन्न हैं—कट्टर पुरोहितों और गिर्जाघर की औरतों को छोड़कर।"

प्रश्न—"स्वामीजी, इंग्लैंड में आपके प्रचार-कार्य की सफलता कैसी मालूम हो रही है?"

उत्तर—"बहुत आशापूर्ण है। बहुत साल बीतने के पहले ही अधिकांश अंगरेज वेदान्ती हो जाएँगे। अमेरिका की अपेक्षा इंग्लैंड

पर मेरा भरोसा अधिक है। अमेरिकावालों को तो देख ही रहे हो—वे सभी विषयों में कैसा हल्ला मचाते हैं, सभी विषयों में उनका ऐसा स्वभाव है। लेकिन अंगरेज़ ऐसा हल्ला नहीं मचाते। ईसाई लोग यदि वेदान्त को नहीं समझ सकेंगे, तो वे अपने न्यू टेस्टामेन्ट को भी नहीं समझ सकेंगे। वेदान्त ही संसार के सभी धर्मों की युक्ति-संगत व्याख्या है। वेदान्त की दृष्टि को छोड़ने पर सभी धर्म केवल कुसंस्कार (Superstition) हैं। और वेदान्त को ग्रहण करने से सब ही धर्म हो जाता है।"

प्रश्न—"आपने अंगरेज़ों के चरित्र में कौन सा विशेष गुण पाया?"

उत्तर—"किसी विषय में विश्वास के होते ही अंगरेज तत्काल उसे काम में लाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी कार्य-शक्ति असाधारण है। अंगरेज़ों की अपेक्षा अधिक उन्नत नर-नारी संसार में देखने में नहीं आते। इसीलिये उन पर हमारा वास्तविक विश्वास है। हाँ पहले उनके मस्तिष्क में कुछ प्रविष्ट कराना बड़ा कठिन काम है। परन्तु निरन्तर यत्न करते रहने से जब हम उनमें एक बार किसी भाव का प्रवेश करा देते हैं तो फिर वह आसानी से निकलता भी नहीं। इंग्लैंड में किसी भी मिशनरी अथवा अन्य किसी व्यक्ति ने हमारे विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा है—और किसी ने हमारी किसी भी प्रकार निन्दा करने की कोशिश नहीं की। हम इस विषय में बहुत ही आश्चर्य मानते हैं कि इंग्लैंड में हमारे जितने मित्र हैं, उनमें से अधिकांश "चर्च आफ इंग्लैंड."

के सदस्य हैं। हमने यह भी जाना है कि इस देश में जो मिशनरी लोग आते हैं, वे इंग्लैंड के अति निम्नश्रेणी के हैं। कोई भी शिष्ट अंगरेज़ उनके साथ सम्पर्क नहीं रखता। यहाँ (भारत) की तरह इंग्लैंड में भी जातिविभाग अत्यन्त कड़ा है और चर्च के अन्तर्गत सारे अंगरेज़ शिष्ट, भद्र होते हैं। आपके साथ उनके मतभेद हो सकते हैं, परन्तु उससे आपके साथ उनकी मित्रता में कुछ बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। इसलिए हम अपने स्वदेशवासियों को यह सलाह देना चाहते हैं कि हमने मिशनरियों का स्वरूप तो जान ही लिया, अब इन गाली-गलौज करने वाले मिशनरियों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं देना चाहिए। आखिर हमीं ने तो उनको सिर पर चढ़ाया, परन्तु अब उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिए।"

प्रश्न—"स्वामीजी, आप कृपा करके हमें अमेरिका और इंग्लैंड के समाजसुधारकों की कार्यप्रणाली के विषय में कुछ बताइये।"

उत्तर—"सारे समाजसुधारक—खास करके उनके नेता लोग अब उनके साम्यवाद आदि को भी किसी प्रकार धर्म की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने का उपाय ढूंढ़ रहे हैं। और वह धर्मभित्ति वेदान्त में ही पाई जाती है। उनके अनेक नेताओं ने जो कि हमारी वक्तृता सुनने को आते थे, हमसे कहा है कि नये ढंग से समाज का संगठन करना हो तो वेदान्त को ही भित्तिस्वरूप मानना चाहिए।"

प्रश्न—"भारत की सर्वसाधारण जनता के सम्बन्ध में आपकी क्या राय है?"

उत्तर—" हम बेहद गरीब हैं। हमारी साधारण जनता लौकिक विद्या में अति अज्ञ है। परन्तु वे लोग बड़े अच्छे हैं, क्योंकि यहाँ दारिद्रय कभी राजा द्वारा दण्डनीय अपराध नहीं माना गया है। ये कभी दुर्दमनीय भी नहीं होते। अमेरिका और इंग्लैंड में हमारी पोशाक के ऊपर ही जनता चिढ़ जाती थी और हमें तो अनेक बार मारने के लिए भी वे लोग तैयार हो जाते थे। परन्तु इस भारत में किसी के साधारण भेस के लिए साधारण जनता उन्मत्त होकर मारने को दौड़ी हो यह बात तो कभी सुनी भी नहीं। अन्यान्य सब विषयों में भी हमारी जनता यूरोप की जनता से कई गुनी सभ्य है।"

प्रश्न—" भारतीय जनसाधारण की उन्नति के लिए आपके मत में क्या करना उत्तम है?"

उत्तर—" उनको लौकिक विद्या सिखाने का विशेष प्रयोजन है। हमारे पूर्वजों ने जो प्रणाली दिखाई है उसी का अनुसरण करना होगा। तात्पर्य यह कि उच्च उच्च आदर्शों को धीरे धीरे जनता में प्रवेश कराना होगा। धीरे धीरे उनको उठाओ, धीरे धीरे उसको अपने समान करलो। लौकिक विद्या को भी धर्म के माध्यम द्वारा सिखाना होगा।"

प्रश्न—" परन्तु स्वामीजी, आप क्या ऐसा समझते हैं कि यह काम सहज होगा?"

उत्तर—" नहीं, इस काम को धीरे धीरे ही करना होगा;

परन्तु यदि हमें स्वार्थत्यागी युवकों का एक दल मिल जाय, जो हमारे साथ काम करने को तैयार हो, तो यह काम कल ही सिद्ध हो जायगा। इस काम के लिए जितने उत्साह और स्वार्थत्याग की आवश्यकता है, उसकी पूर्ति के ऊपर ही इस कार्य की शीघ्रता अथवा विलम्ब निर्भर है।"

प्रश्न—"परन्तु यदि उनकी वर्तमान हीन दशा का कारण उनके पिछले कर्म माने जायँ, तो स्वामीजी, आप कैसे समझते है कि अनायास ही उसका निवारण हो जायगा, और उनकी सहायता करने में आपकी इच्छा भी क्यों होती है?"

स्वामीजी ने क्षणभर के लिए भी न रुक कर तुरन्त ही उत्तर दिया—"अनन्तकाल से लेकर कर्मवाद ही मनुष्य की स्वतन्त्रता की घोषणा कर रहा है। हम अपने कर्म के द्वारा अपने को हीन दशा में पहुँचा सकते है—यह बात यदि सत्य हो—तो कर्म के द्वारा ही अपनी अवस्था को उन्नत बनाना भी हमारे आधीन अवश्य है। और बात भी यह है कि जनता केवल अपने कर्म द्वारा ही इस हीन दशा को प्राप्त हुई हो, ऐसा नहीं। अतः उनकी उन्नति के लिए उनको और भी सुविधा देनी चाहिए। हम सारी जाति को एकाकार करने को नहीं कहते। जाति-विभाग तो अति उत्तम व्यवस्था है। हम इस जाति-विभाग-प्रणाली का ही अनुसरण करना चाहते हैं। परन्तु यह जाति-विभाग वास्तव में क्या वस्तु है, इस बात का पता शायद लाखों में एकाध को भी न हो। संसार में ऐसा कोई भी देश न होगा जहाँ जाति नहीं है।

परन्तु भारत में हम उस जाति-विभाग के भीतर होते हुए ही उससे अतीत भूमि में जाया करते हैं। जाति-विभाग उसी मूलसूत्ररूपी सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है। भारत में इस जाति-विभाग-प्रणाली का उद्देश्य ही सबको धीरे धीरे ब्राह्मण बनाना है—ब्राह्मण ही आदर्श मानव है। भारत का इतिहास पढ़ कर देखो, यहाँ तो चिरकाल से ही निम्न जाति को उन्नत करने के प्रयत्न होते रहे। अनेक जातियों को उन्नत करने में सफलता भी मिल चुकी है और मिलेगी भी। अन्त में सभी ब्राह्मण हो जायँगे। यही हमारी कार्यप्रणाली है। किसी को दबाकर नीचे नहीं गिराना है, परन्तु सबको ऊपर उठाना है। और यह काम खास करके ब्राह्मणों को ही करना होगा; क्योंकि प्रत्येक अभिजात सम्प्रदाय का यह कर्तव्य है कि वे स्वयं ही अपना मूलोच्छेद कर दें *। और जितना शीघ्र वे इस कर्तव्य को पूरा करेंगे उतना ही सबके लिए अच्छा है। इस विषय में देरी करना तथा मुहूर्तमात्र कालक्षेप करना योग्य नहीं है। यूरोप या अमेरिका में जिस प्रकार का जाति-विभाग है भारत का जाति-विभाग तो उससे सौगुना अच्छा है। हाँ, हम यह भी नहीं कहना चाहते कि भारतीय जाति-विभाग सम्पूर्ण अच्छा ही है। यदि यहाँ जाति-विभाग न होता, तो तुम कहाँ होते? जाति-विभाग के न होने से तुम्हारी विद्या या अन्यान्य गुण आदि कहाँ होते? जाति-विभाग के बिना

* अभिजात सम्प्रदाय यदि अपने धन, विद्या, बुद्धि प्रभृति को सर्व-साधारण के बीच वितरण कर दे, तो अभिजात सम्प्रदाय नामक और पर्थक कुछ रहेगा ही नहीं; अर्थात् उनका मूलोच्छेद हो जायगा।

यूरोपनिवासियों को पढ़ाने के लिए ये शास्त्र आदि भी किस तरह बचते ! मुसलमान लोगों ने तो इन सबों का ध्वंस कर डाला होता। भारतीय समाज क्या कभी भी स्थितिशील रहा ! यह तो सदा ही गतिशील है । कभी कभी जब विजातीय आक्रमण आदि होते है, तो इस गति का वेग कुछ मन्द हो जाता है; अन्य समय वह फिर द्रुत हो जाता है । हम अपने स्वदेशवासियों से यही कहते है। हम कभी उनको गाली नहीं देते, न उनकी निन्दा करते हैं। हम तो अतीत की ओर देखते है, और देख पाते हैं कि देश-काल-अवस्था का विचार करने पर कोई भी जाति हमारी जाति की अपेक्षा अधिक महान कर्म नहीं कर सकती थी । हम तो हमेशा यही कहते है कि तुमने अतीत में बहुत ही अच्छा कार्य किया है, आगे उससे भी उत्तम कार्य करने की कोशिश करो। ”

प्रश्न—“ स्वामीजी, जाति-विभाग के साथ कर्मकाण्ड के सम्बन्ध के विषय में आपका क्या मत है ? ”

उत्तर—“ जाति-विभाग-प्रणाली भी निरन्तर बदल रही है और क्रियाकाण्ड भी साथ ही साथ निरन्तर बदल रहा है। सिर्फ मूल तत्त्व का कोई भी परिवर्तन नहीं होता । हमारा धर्म क्या है इसको जानना हो तो वेदों को पढ़ना होगा । वेदों को छोड़कर अन्य सारे शास्त्र युगभेद से बदलते रहते है । परन्तु वेदों का शासन नित्य है। अन्य शास्त्रों का शासन तो कालविशेष की सीमा के भीतर ही कार्य करता है । जैसे कि किसी स्मृति का शासन किसी युग-विशेष के लिए होता है, दूसरे युग के लिए फिर दूसरी स्मृति । बड़े बड़े

महापुरुष, अवतार आदि आते ही रहते हैं, और युग के लिए कर्तव्य का निर्देश भी करते हैं । कितने ही महापुरुष निम्न जाति की उन्नति के लिए कोशिश कर गए । मध्वाचार्य जैसे किसी किसी महापुरुष ने स्त्रियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार प्रदान किया है । जाति-विभाग कभी नहीं मिट सकता; केवल उसको बीच बीच में नये ढाँचे में ढाल लेना चाहिए । हमारी प्राचीन समाजपद्धति के भीतर ही ऐसी जीवनीशक्ति विद्यमान है कि इससे हजारों प्रकार से भी उसको परिवर्तन किया जा सकता है । जाति-विभाग को मिटाने की इच्छा पागलपन के सिवाय और कुछ नहीं । पुरातन का ही नवपरिवर्तन या विकास—यही नूतन कार्यप्रणाली है । ”

प्रश्न—“ क्या हिन्दुओं के लिए समाजसंस्कार का कुछ भी प्रयोजन नहीं है ? ”

उत्तर—“ ज़रूर है । प्राचीन काल में बड़े बड़े महापुरुष समाज की उन्नति के लिए नई नई पद्धति का आविष्कार करते थे और राजा लोग विधान बनाकर उसका समाज में प्रवर्तन करते थे । प्राचीन काल में इसी तरह भारतीय समाज की उन्नति होती थी । वर्तमान काल में भी इस प्रकार सामाजिक उन्नति करनी हो तो ऐसी एक शक्ति की आवश्यकता है जिसके सत् परामर्श को सब कोई मान्यता दे । अब हिन्दू राजा नहीं है, इसलिए लोगों को स्वयं ही अग्रसर होकर अपना सुधार, अपनी उन्नति आदि की कोशिश करनी होगी । इसलिए हमें तब तक ज़रूर ठहरना होगा जब तक कि लोग

शिक्षित होकर अपने प्रयोजनों को आप ही समझ न लें और अपनी समस्याओं को हल करने में आप ही तैयार या समर्थ हो जायँ। यह बड़े दुःख की बात है कि किसी प्रकार सुधार करने के समय सुधार के पक्ष में बहुत थोड़े ही लोग देखने में आते हैं। इसलिए सिर्फ कुछ अवास्तविक काल्पनिक सुधारों में (जो कभी कार्य में परिणत न होंगे) व्यर्थ ही शक्ति का नाश न कर, हमें चाहिए कि एकदम जड़ से ही इसका प्रतीकार अर्थात् सुधार करने का उपाय ढूँढ़ें। इसलिए ऐसे लोगों के एक दल का संगठन करना चाहिए, जो अपने विधान आदि को आप ही बना लें। मतलब यह है कि इस कार्य के लिए लोगों को शिक्षा देनी चाहिए—इससे वे स्वयं ही अपनी समस्याओं को हल कर लेंगे। नहीं तो ये सारे सुधार आकाश-कुसुम ही रह जाएँगे। नयी प्रणाली यही है कि आप ही अपनी उन्नति कर लें। इस नीति को काम में लाने में देर लगेगी। खास कर भारतवर्ष में तो विलम्ब अवश्य होगा; क्योंकि प्राचीन काल से लेकर यहाँ पर राजाओं का शासन ही लगातार होता रहा है।"

प्रश्न—"क्या आप समझते हैं कि हिन्दू समाज यूरोप के समाज की रीति-नीति का ग्रहण कर कृतकृत्य हो सकता है!"

उत्तर—"नहीं, नहीं, कभी नहीं। हम तो यह कहते हैं कि ग्रीस देश की जो चिन्ताधारा यूरोप की सारी जातियों की बहिर्मुखी शक्ति में प्रकट हो रही है उसके साथ हिन्दूधर्म का योग

होने पर वही भारतीय समाज का आदर्श होगा । दृष्टान्तरूप में देखिए कि वृथा ही शक्ति का अपव्यय न कर और अवास्तविक काल्पनिक व्यर्थ विषयों पर दिनरात बकवाद न कर अंगरेजों से यह शिक्षा लेनी चाहिए कि आज्ञामात्र से ही तत्काल नेता का आदेश किस तरह पालन किया जाय । ईर्ष्याहीनता, अदमनीय अध्यवसाय, अनन्त आत्म-विश्वास आदि की शिक्षा उनसे लेनी चाहिए । एक अंगरेज यदि किसी को अपना नेता स्वीकार कर लेगा, तो सभी अवस्थाओं में वह उसके आज्ञाधीन रहेगा । पर भारत में तो उसके विपरीत है; यहाँ सब कोई नेता बनना चाहते हैं; हुक्म तामिल करने वाला कोई नहीं है । किसी को आदेश देने से पहिले आदेश का पालन करने की शिक्षा लेनी चाहिए । हमारी आपस में ईर्ष्या-विद्वेष की तो सीमा ही नहीं है, और जितने हम हीनशक्ति हो रहे हैं, उतने ही हम अधिक से अधिक ईर्ष्यापरायण होते जा रहे हैं। जब तक हम हिन्दू इस ईर्ष्या-द्वेष का त्याग न करेंगे, जब तक हम नेता के आज्ञा-पालन की शिक्षा नहीं लेंगे तब तक हिन्दुओं की एक समाजसंहति बन ही नहीं सकती । तब तक हम ऐसे बिखरे हुए ही रहेंगे, हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। यूरोप से भारत को बहि:प्रकृति पर जय की शिक्षा लेनी है; इसी प्रकार भारत से यूरोप को अन्त:प्रकृति पर जय की शिक्षा लेनी है । ऐसा होने पर फिर हिन्दू अथवा यूरोपीयन कुछ भेदभाव न रहेगा, उभयप्रकृतिजयी एक आदर्श अखण्ड मनुष्य-समाज संगठित हो जायगा । हम मनुष्यत्व के एक पहलू का और वे दूसरे पहलू का विकास कर रहे हैं। इन दोनों का

मिलन ही आवश्यक है । मुक्ति जो कि हमारे धर्म का मूलमन्त्र है, उसका भी यथार्थ अर्थ कायिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि सर्व प्रकार की निरंकुश स्वतन्त्रता ही है । "

प्रश्न—" स्वामीजी, धर्म के साथ क्रियाकाण्ड का क्या सम्बन्ध है ? "

उत्तर—" क्रियाकाण्ड धर्म का 'किण्डर गार्टन' अर्थात् प्राथमिक विद्यालय है । संसार की वर्तमान दशा में उस क्रियाकाण्ड की बहुत ज़रूरत है । परन्तु लोगों को नये नये अनुष्ठान बतलाने होंगे । इस कार्य की जिम्मेदारी कुछ चिन्ताशील व्यक्तियों को ही लेनी चाहिए। पुराने क्रियाकाण्डों को बदल कर नये नये का प्रवर्तन करना होगा । "

प्रश्न—" तो क्या फिर आप क्रियाकाण्ड को बिलकुल ही हटा देना चाहते हैं ? "

उत्तर—" नहीं, हमारा मूलमंत्र तो गठन ही है; विनाश नहीं । वर्तमान क्रियाकाण्ड से ही नये क्रियाकाण्ड की रचना करनी है । सभी विषयों में अनन्त उन्नति की सम्भावना है—यही हमारा दृढ़ विश्वास है । एक परमाणु के पीछे समग्र विश्व की शक्ति है । हिन्दू जाति के इतिहास में आज तक विनाश की चेष्टा कभी नहीं पायी जाती है; परन्तु सदैव गठन की ही कोशिश होती रही। केवल एक ही सम्प्रदाय ने विनाश की चेष्टा की थी जिसका परिणाम यह हुआ कि वही भारत से सदा के लिये निकाला गया और वह

या बौद्ध सम्प्रदाय। हमारे शंकर, रामानुज, चैतन्य आदि अनेक सुधारक हुए थे; वे सभी उच्च कोटि के सुधारक थे।…वे हमेशा गठन की ओर ही ध्यान रखते थे। देश और काल के अनुसार वे समाज का गठन करते रहे—यही है हमारी कार्यप्रणाली की सनातन विशेषता। हमारे आधुनिक सब सुधारक यूरोप के अनुकरण में विनाशकारी सुधार का अवलम्बन करना चाहते हैं; परन्तु इससे किसी का न कुछ लाभ हुआ, न होगा। आधुनिक समाजसुधारकों में सिर्फ एक मात्र राजा राममोहन राय सम्पूर्ण गठन करने वाले समाज-सुधारक थे। हिन्दू जाति सर्वदा ही वेदान्त के आदर्श को कार्य में परिणत करने की कोशिश करती आई है। बुरी या अच्छी सभी अवस्थाओं में वेदान्त के इस आदर्श को कार्यरूप में परिणत करने की प्राणपण से चेष्टा ही है भारत-जीवन का समग्र इतिहास। भारतवर्ष के किसी स्थान में जब ऐसे किसी सुधारक सम्प्रदाय या धर्म का उत्थान हुआ, जो कि वेदान्त के आदर्श को मानने को तैयार नहीं था, तो उसका तत्काल ही विलोप हो गया।"

प्रश्न—"आपकी भारत के लिए कार्यप्रणाली कैसी है?"

उत्तर—"हम अपने संकल्प को कार्य में परिणत करने के लिए दो शिक्षा-केन्द्र स्थापित करना चाहते हैं। उनमें से एक होगा मद्रास में और दूसरा कलकत्ते में। यदि हमारे संकल्प के विषय में पूछो तो उसका संक्षेप में उत्तर यही है कि वेदान्त के आदर्श को प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में परिणत करने का प्रयत्न; चाहे वह

व्यक्ति साधु हो या असाधु, ज्ञानी हो या अज्ञानी, ब्राह्मण हो या चाण्डाल।"

अब हमारे प्रतिनिधि ने भारत की राजनीतिक समस्या के बारे में कुछ प्रश्न किये, परन्तु उनके उत्तर मिलने के पहले ही गाड़ी मद्रास के एगमोर स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर आ पहुँची। स्वामीजी के श्रीमुख से इतना ही सुनने को मिला कि वे भारत और इंग्लैंड की समस्याओं को राजनीति के साथ मिलाने के घोर विरोधी हैं।

इसके पश्चात् हमारे प्रतिनिधि ने विदा ग्रहण की।

---

७. पाश्चात्य देश में प्रथम हिन्दू संन्यासी का प्रचारकार्य; और उनके मत में भारत की उन्नति का उपाय

(मद्रास टाइम्स, फरवरी १८९७)

पिछले कई हफ्तों से मद्रास की हिन्दू जनता परम उत्सुकता के साथ जगद्विख्यात, परम श्रेष्ठ हिन्दू संन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी के आगमन की प्रतीक्षा कर रही है, सभी के मुख से उन्हीं के नाम का उच्चारण हो रहा है । मद्रास के स्कूल, कॉलेज, हाइकोर्ट, समुद्र-तट, रास्ते-गलियाँ, बाजार आदि स्थानों में सैकड़ों जिज्ञासु परस्पर पूछ रहे हैं कि स्वामीजी कब पधार रहे हैं । विश्वविद्यालय में परीक्षा देने के लिए हजारों विद्यार्थी देहातों से यहाँ पहुँचे हैं । परीक्षा के बाद घर लौटने के लिए पिता-माता का आग्रह होते हुए भी स्वामीजी के दर्शन के लिए वे अभी तक यहीं ठहरे हैं, और होस्टल का खर्च बढ़ा रहे हैं । थोड़े दिनों में ही स्वामीजी हमारे यहाँ पहुँचेंगे । मद्रास प्रेसिडेन्सी के बाहर स्वामीजी की अभ्यर्थना जैसी हुई है वैसी ही यहाँ भी हिन्दू जनता के व्यय से इन महा-पुरुष का स्वागत होगा—इसमें कोई संशय नहीं । इस सम्बन्ध में यहाँ जो तैयारियाँ हो रही हैं, कैसल कर्नन में, जहाँ कि ये महा-पुरुष निवास करेंगे, जो तोरण तथा वंदनवार सजाए जा रहे हैं तथा

नगर के प्रतिष्ठित हिन्दू सज्जन, उदाहरणार्थ, आनरेबल मिस्टर जस्टिस सुब्रमनियम अय्यर, इस विषय में जो दिलचस्पी ले रहे हैं, यह सब इस बात की द्योतक है कि स्वामीजी की अभ्यर्थना किस शान-शौकत से होगी। स्वामीजी की उच्च प्रतिभा को सबसे पहिले पहचानकर मद्रास ने ही शिकागो-धर्मसभा में भाग लेने के लिए उनकी सारी व्यवस्था की थी। वही मद्रास अब उन महापुरुष का, जिन्होंने अपनी मातृभूमि के गौरव-उत्थान के लिए इतना किया, स्वागत कर फिर स्वयं को सम्मानित करेगा।

इसमें संशय नहीं कि स्वामीजी एक महान् व्यक्ति है। चार साल पहले जब स्वामीजी यहाँ पधारे थे, उस समय वास्तव में वे एक अज्ञात व्यक्ति थे। सेन्ट टॉम के एक साधारण बंगले में वे दो महीने तक रहे और उस बीच में वे धर्मविषयक वार्तालाप करते रहे, तथा जो जो उनके पास आते थे उन्हें शिक्षा प्रदान करते थे। उनसे प्रभावित होकर कुछ शिक्षित बुद्धिमान युवक उन्हीं दिनों कहा करते थे कि इनके भीतर कुछ ऐसी अलौकिक शक्ति है जो अवश्य ही इन्हें असाधारण श्रेष्ठ पद पर आरूढ़ करेगी तथा उन्हें विश्वनेतृत्व प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करेगी। लोग उस समय इन युवकों को 'उन्मार्गगामी नवयुवक' अथवा 'पुनरुत्थानकारी, आसमान के स्वप्न देखने वालों' के नाम से पुकारते थे तथा उनसे घृणा करते थे। वे ही नवयुवक आज अपने स्वामीजी को (उन्हें इस नाम से पुकारने में वे विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं)

यूरोप तथा अमेरिका में इतनी ख्याति प्राप्त कर लौटे हुए देखकर परम सन्तोष का अनुभव करते हैं। स्वामीजी के प्रचार का विषय मुख्यतः आध्यात्मिकता ही है। उनका दृढ़ विश्वास है कि आध्यात्मिकता की जननी, इस भारतभूमि का भविष्य परम उज्ज्वल है। उनकी यह दृढ़ धारणा है कि उनके मतानुसार जो वेदान्त-सत्य है उसका दिनों-दिन पाश्चात्य देशों में प्रसार होगा तथा उसके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ेगी। उनके मूल-मन्त्र हैं—'सहायता, संघर्ष नहीं; दूसरे का विनाश नहीं वरन् उसे अपनाना; प्रतिद्वन्द्विता नहीं वरन् सर्वत्र समन्वय और शान्ति।' दूसरे धर्ममतावलम्बियों का स्वामीजी से चाहे जो कुछ भी मतभेद क्यों न रहा हो, ऐसा कोई विरला ही होगा जो इस बात को स्वीकार न करे कि स्वामीजी ने पाश्चात्य देशों को यह दिखाकर कि हिन्दू धर्म में श्रेष्ठतम क्या है उनकी आँखें खोल दीं, और इस प्रकार उन्होंने अपने देश की अद्वितीय सेवा की है। चिरकाल तक लोग इस बात को स्मरण रखेंगे कि वे ही सर्वप्रथम हिंन्दू संन्यासी थे जिन्होंने समुद्र पार जाने का साहस किया और पाश्चात्य देशों को वह सन्देश सुनाया जिसे वे धर्मसमन्वय का एक साधन मानते हैं।

हमारे पत्र के एक प्रतिनिधि ने एक बार स्वामी विवेकानन्दजी से, उन्हें अपने धर्मप्रचार के कार्य में जो सफलता प्राप्त हुई थी उसकी जानकारी प्राप्त करने के लिए भेंट की। स्वामीजी ने हमारे प्रतिनिधि का बड़े आदरपूर्वक स्वागत किया और उन्हें अपने पास एक कुर्सी पर बैठाया। स्वामीजी गेरुआ वस्त्र धारण किए हुए थे;

वे शान्त, स्तब्ध तथा प्रतिभाशाली थे और किसी भी प्रश्न का उत्तर देने को प्रस्तुत प्रतीत होते थे। हमारे प्रतिनिधि ने सांकेतिक-लिपि (short-hand) में स्वामीजी के शब्दों को जैसा लिखा वैसा ही हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

हमारे प्रतिनिधि ने पूछा—"स्वामीजी, क्या हम आपके बाल्य-जीवन के विषय में कुछ जान सकते हैं?"

स्वामीजी बोले—"कलकत्ते में जब हम विद्यालय में अध्ययन करते थे तभी से हमारी प्रकृति धर्मप्रवण थी। जीवन के प्रभात-काल से ही हमारी आदत ऐसी पड़ी थी कि सभी विषयों की परीक्षा करके फिर उन्हें ग्रहण करना; केवल शब्दों से हम कभी तृप्त नहीं होते थे। इसके थोड़े दिन के बाद ही श्रीरामकृष्ण देव के साथ हमारी भेंट हुई। उनके आश्रय में दीर्घ काल तक निवास करते हुए हमने उनसे ही धर्मतत्त्व की शिक्षा प्राप्त की। हमारे गुरुदेव के देहत्याग के बाद हम भारत-परिभ्रमण के लिए निकले, और कलकत्ते में एक छोटा सा मठ स्थापित कर दिया। भ्रमण करते हुए हम मद्रास में आए थे, और मैसूर के स्वर्गीय राजा तथा रामनद के राजा से हमें सहायता प्राप्त हुई।"

प्रश्न—"आप पाश्चात्य देशों में हिन्दू धर्म का प्रचार करने क्यों गए थे?"

उत्तर—"पाश्चात्य देशों के विषय में जानकारी की हमें इच्छा हुई थी। दूसरों के साथ न मिलकर केवल कूप-मण्डूक बनने

के कारण ही हमारी जाति की अवनति हुई है—यही हमारा मत है। हमारी अनवति का वही मुख्य कारण है। पाश्चात्य के साथ परस्पर भाव-विनिमय या सन्तुलन का अवसर हमें कभी नहीं मिला था। हम चिरकाल से कूपमण्डूक बने हुए हैं।"

प्रश्न—"मालूम होता है कि आप पाश्चात्य देश के बहुत स्थानों में भ्रमण कर आए होंगे?"

उत्तर—"हम यूरोप के बहुत स्थानों में गये थे। जर्मनी और फ्रान्स भी गए थे; परन्तु हमारा कर्मक्षेत्र मुख्यतः इंग्लैंड और अमेरिका ही रहा। पहले तो हम ज़रा मुश्किल में पड़ गए थे, क्योंकि भारतवर्ष से जो लोग वहाँ पहुँचे थे उनमें प्रायः सभी ने भारत के विरुद्ध पक्ष का अवलम्बन किया था। परन्तु यह हमारा चिरन्तन विश्वास है कि भारतवासी ही समग्र संसार में सबसे अधिक नीतिपरायण और धार्मिक जाति है। इस कारण हिन्दू के साथ इस विषय में अन्य किसी जाति की तुलना करना ही बिलकुल भूल है। सर्वसाधारण के सामने जब हम हिन्दू जाति के श्रेष्ठत्व का प्रचार करने लगे, तो पहले पहले बहुत लोगों ने हमारी भयंकर निन्दा करना शुरू की, यहाँ तक कि हमारे विरोध में नाना प्रकार का मिथ्यावाद रचने में भी वे नहीं हिचकिचाए। वे कहते थे कि वह (स्वामी विवेकानन्द) तो एक पाखण्डी ठग है। उसके बहुत सी स्त्रियाँ हैं और बाल-बच्चों के तो ढेर के ढेर हैं। परन्तु इन धर्म-प्रचारकों के विषय में हमारी अभिज्ञता जितनी जितनी अधिक होती

गई, उतना ही हमको मालूम होता रहा कि धर्म के नाम पर कहाँ तक अधर्म हो सकता है । इस विषय में हमारी आँखें खुल गईं । परन्तु इंग्लैंड में इस प्रकार मिशनरियों का उपद्रव बिलकुल था ही नहीं । वहाँ के मिशनरियों में से कोई भी हमारे साथ लड़ने नहीं आया । अमेरिका में मिस्टर लैण्ड नामक एक पादरी ने गुप्त रीति से हमारी निन्दा करने की कोशिश की, परन्तु उसकी बातों पर किसी ने विश्वास नहीं किया; क्योंकि उस समय हम अमेरिका की जनता के अतिशय प्रिय हो गए थे । फिर जब हम इंग्लैंड आए तो हमने सोचा कि यह मिशनरी हमारे विरुद्ध कुछ प्रचार करेगा; परन्तु 'ट्रुथ' (Truth) नामक संवादपत्र ने उसे दबा दिया । इंग्लैंड की सामाजिक रीति भारतीय जाति-विभाग से भी अधिक कठोर है । इंग्लिश चर्च के प्रचारकों में सभी खानदान के लोग हैं; परन्तु मिशनरियों में अधिकांश वैसे नहीं हैं । इंग्लिश चर्चवालों ने हमारे साथ बहुत ही सहानुभूति प्रकट की थी । हमें प्रतीत होता है कि इंग्लिश चर्च के प्रचारकों में से प्राय: तीस व्यक्ति धर्मविषयक सर्व प्रकार के विवादास्पद कूट विषयों में हमारे साथ सम्पूर्ण रूप से एकमत हैं । और हमने यह भी देखा है कि इंग्लैंड के प्रचारक या पुरोहित लोग उन विषयों में उनका हमारे साथ मतभेद होते हुए भी, कभी भी गुप्त रीति से हमारी निन्दा नहीं करते थे । इससे हमें बड़ा आनन्द और विस्मय हुआ । जातिविभाग और वंशपरम्परागत शिक्षा का यही गुण है ।"

प्रश्न—"पाश्चात्य देशों में धर्मप्रचार का कार्य कहाँ तक सफल रहा ?"

उत्तर—"अमेरिका के बहुत से लोग—संख्या में इंग्लैंड से भी बहुत अधिक—हमारे साथ सहानुभूति रखते थे। निम्नजातीय मिशनरियों की निन्दा ने वहाँ हमारे कार्य में सहायता ही पहुँचाई। अमेरिका में पहुँचते समय हमारे पास विशेष कुछ द्रव्य नहीं था। भारतवासियों ने हमें मार्गव्यय मात्र देकर ही भेजा था। वह थोड़ा सा कुछ ही दिनों में व्यय हो गया, इसलिए जैसे यहाँ (भारत में) वैसे ही वहाँ (अमेरिका में) साधारण जनता की दया पर निर्भर रहकर हमें समय बिताना पड़ा। अमेरिकावासी बड़े अतिथिपरायण हैं। अमेरिका के एक तिहाई लोग ईसाई हैं। शेष लोगों का कोई भी धर्म नहीं है, अर्थात् वे किसी विशेष सम्प्रदाय में शामिल नहीं हैं। परन्तु उन्हीं में श्रेष्ठ धार्मिक लोग देखने में आते हैं।

"हमारी समझ में इंग्लैंड में जो कुछ कार्य हुआ है वह पक्का है। यदि हम कल मर जायँ, और कार्य चलाने के लिए वहाँ किसी संन्यासी को न भेज सकें, तो भी इंग्लैंड का कार्य चलता ही रहेगा। अंग्रेज बड़े सज्जन होते हैं। बाल्यकाल से ही अपने समस्त भाव दबा रखने की उन्हें शिक्षा दी जाती है। अंग्रेज मोटी बुद्धिवाला होता है; इसलिए फ्रान्सीसी या अमेरिकावालों के समान वह जल्दी किसी विषय को नहीं समझ सकता। परन्तु वह बड़ा दृढ़कर्मी होता है। अमेरिकन जाति की आयु अभी इतनी अधिक नहीं हुई है जिससे कि वे त्याग

की महिमा को समझ सकें। इंग्लैंड सैकड़ों युगों से विलासिता और ऐश्वर्य का भोग कर रहा है, इसलिए वहाँ अब अनेक लोग त्याग के लिए प्रस्तुत हैं। जब हमने पहली बार इंग्लैंड जाकर वहाँ वक्तृता देना प्रारम्भ किया तो हमारी कक्षा में केवल पचीस-तीस विद्यार्थी आते थे। जब हम वहाँ से अमेरिका चले गए, तब भी वहाँ वैसा ही क्लास चलता रहा! बाद में अमेरिका से फिर जब हम इंग्लैंड पहुँचे तो इच्छा करते ही एक हजार श्रोतागण उपस्थित हो जाते थे। अमेरिका में उससे भी अधिक श्रोतागण उपस्थित होते थे, क्योंकि हम अमेरिका में तीन साल और इंग्लैंड में कुल एक ही साल ठहरे थे। हम इंग्लैंड में एक संन्यासी को रख आए हैं और वैसे ही अमेरिका में भी। दूसरे देशों में भी इसी प्रकार प्रचारकार्य के लिए संन्यासी भेजने की हमारी इच्छा है।

"अंग्रेज जाति बहुत दृढ़कर्मी है। यदि उनमें किसी भाव का प्रवेश कराया जाय, अर्थात् यदि वे उस भाव को वास्तव में अपना लें तो निश्चित समझना चाहिए कि वह व्यर्थ नहीं होगा। हमारे देश के लोगों ने तो अब वेदों तक को तिलांजलि दे दी है! समस्त धर्म और दर्शन अब इस देश में रसोईघर में घुस गए हैं! केवल छुआछूत ही भारत का वर्तमान धर्म है--इस धर्म को अंग्रेज कभी भी न लेंगे। परन्तु हमारे पूर्वपुरुषों की चिन्ताओं को, एवं दार्शनिक तथा आध्यात्मिक जगत् में जिन अपूर्व तत्त्वों को उन्होंने आविष्कृत किया था उन्हें संसार की प्रत्येक जाति आदरपूर्वक ग्रहण

करेगी। इंग्लिश चर्च के बड़े बड़े नेता लोग भी कहते थे कि आपकी चेष्टा से हमारी बाइबिल के भीतर वेदान्त के भाव का प्रवेश हो गया है। आधुनिक हिन्दू धर्म हमारे प्राचीन धर्म का एक अवनत रूप मात्र है। पाश्चात्य देशों में आजकल जो कुछ दार्शनिक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं उनमें ऐसा एक भी न होगा जिसमें हमारे वेदान्त धर्म का कुछ न कुछ प्रसंग न हो। हर्बर्ट स्पेन्सर के ग्रन्थ तक में भी ऐसा ही है। अब तो दर्शन के राज्य में अद्वैतवाद ही प्रमुख है। सभी अब उसी की बातें करते हैं, परन्तु यूरोप के लोग उसमें भी अपनी मौलिकता दिखाना चाहते हैं! इधर हिन्दुओं के प्रति वे अत्यन्त घृणा प्रदर्शित करते हैं और उधर हिन्दुओं के द्वारा प्रचारित सत्यों को ग्रहण करना भी नहीं छोड़ते। प्रोफेसर मैक्समूलर तो पूर्ण वेदान्ती हैं। उन्होंने वेदान्त के लिए बहुत कुछ किया है। वे पुनर्जन्मवाद में विश्वास करते हैं।"

प्रश्न—"भारत के पुनरुद्धार के लिए आप क्या करना चाहते हैं?"

उत्तर—"हमारी समझ में देश की साधारण जनता की अवहेलना करना ही हमारा प्रबल जातीय पाप है, एवं वही हमारी अवनति का एक कारण है। जब तक सर्वसाधारण भारती जनता उत्तम रूप से शिक्षित न हो जाय, जब तक उनकी अच्छी तरह खाने पीने की व्यवस्था न हो और जब तक अभिजात व्यक्ति प्रेमपूर्वक इनकी देखभाल न करे तब तक कितना ही राजनीतिक

आन्दोलन क्यों न हो, कुछ भी फल न होगा । वे हमारी शिक्षा के लिए (राजकर के रूप में) पैसा देते हैं । उन्हीं के शारीरिक परिश्रम द्वारा हमारे धर्मलाभ की सिद्धि के लिए बड़े बड़े मन्दिरों का निर्माण हो रहा है । परन्तु उसके प्रतिदान में उनको चिरकाल से ठोकर के सिवाय और क्या मिला है ? वास्तव में वे हमारे गुलाम जैसे बने हुए हैं । यदि हम भारत का पुनरुद्धार चाहते हैं, तो हमें अवश्य ही उनके लिए कार्य करना होगा । युवकों को धर्मप्रचारक के रूप में शिक्षित करने के लिए हम पहले दो केन्द्रीय शिक्षालय अर्थात् मठ की स्थापना करना चाहते हैं । उनमें से एक तो मद्रास में होगा और दूसरा कलकत्ते में । कलकत्ते का मठ स्थापित करने के लिए अर्थसंग्रह भी आवश्यक हो गया है । हमारे उद्देश्य को सफल करने के लिए अँगरेज (विदेशीय लोग) ही पैसा देने के लिए तैयार हैं । नवीन पीढ़ी के नवयुवकों पर ही हमारा विश्वास है । उन्हीं में से हम अपने कर्मियों का संग्रह कर सकेंगे । शेर की तरह वे ही विक्रम के साथ देश की यथार्थ उन्नति के विषय में जो कुछ भी समस्या होगी उसे हल कर सकेंगे । वर्तमान काल में अनुष्ठेय आदर्श को हमने एक निर्दिष्ट रूप में व्यक्त कर दिया है, और उसको सफल रूप से कार्यान्वित करने के लिए हमने अपना जीवन समर्पित कर दिया है । यदि हम इसमें सिद्धि प्राप्त न कर सकेंगे तो हमारे बाद हमसे भी कोई श्रेष्ठ व्यक्ति भविष्य में जन्म ग्रहण कर उसे कार्य में परिणत करेगा । हम तो उस कार्य के लिए जी जान से चेष्टा करके ही सन्तुष्ट रहेंगे । हमारी राय में वर्तमान भारत की

समस्या के समाधान का एकमात्र उपाय यही है कि सर्वसाधारण जनता को उसके अधिकार दे दिये जायँ। संसार में भारत का धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु फिर भी चिरकाल से हमने आम जनता को केवल कुछ निःसार वस्तु देकर ही भुला रखा है। सामने अनन्त प्रवाह बह रहा है, फिर भी हम इन्हें गन्दा पानी ही पिला रहे हैं। देखिए न, मद्रास के ग्रेजुएट लोग एक निम्न जाति के आदमी को स्पर्श तक नहीं करेंगे; परन्तु अपनी शिक्षा की सहायता के लिए उनसे (राजकर के रूप से या अन्य किसी प्रकार से) धन लेने को तैयार हैं। हम प्रथम ही, धर्मप्रचारकों की शिक्षा के लिए पूर्वोक्त दो शिक्षालय स्थापित करना चाहते हैं। वे सर्वसाधारण जनता को धर्म तथा लौकिक विद्या, दोनों की शिक्षा प्रदान करेंगे। वे एक केन्द्र से दूसरे केन्द्र का विस्तार करेंगे—और इस तरह धीरे धीरे हम समग्र भारत में फैल जाएँगे। आत्मविश्वास—स्वयं में विश्वास यही हमारा सबसे प्रधान कर्तव्य है: यहाँ तक कि भगवान में विश्वासी होने से पहले ही सबको आत्मविश्वास-सम्पन्न होना पड़ेगा। दुःख की बात है कि हम भारतवासी दिनों दिन इस आत्मविश्वास को, इस अमूल्य रत्न को खो रहे हैं। संस्कारकों के विरुद्ध इसीलिए हमें इतना कहना पड़ रहा है। कट्टर लोगों के भाव अपरिणत होने पर भी उनमें आत्मविश्वास अधिक है: और यही कारण है कि उनके मन में तेज भी अधिक है। परन्तु यहाँ के संस्कारक तो युरोपियनों के हाथ की कठपुतली बनकर उनके अहंकार के पोषक ही हो रहे हैं। अन्यान्य देशों की तुलना में हमारे देश की साधारण जनता देवतुल्य

है। भारत ही एकमात्र देश है जहाँ दरिद्रता को पाप नहीं माना जाता है। निम्न जाति के भारतवासियों के शरीर भी देखने में सुन्दर हैं और उनके मन की कमनीयता भी यथेष्ट है। परन्तु हम सम्भ्रान्त व्यक्ति उनके प्रति जो निरन्तर घृणा करते रहे हैं, उसी से वे आत्म-विश्वास खो बैठे हैं। वे समझते हैं कि वे दास होकर ही संसार में आए हैं। उन्हें उनके अधिकार प्रदान कर दिए जायँ और वे अपने पैरों उठ खड़े होंगे। जनसाधारण को इस प्रकार अधिकार प्रदान करना ही अमेरिकन सभ्यता का महत्व है। किसी एक ऐसे आयरलैन्ड-निवासी की कल्पना कीजिए जो मान लीजिए अभी जहाज़ से आया है। उसकी कमर झुकी हुई है, एक लकुटी के सहारे टेककर चल रहा है—अर्धबुभुक्षित, चीथड़ों की एक गठरी कंधे पर लिए हुए। परन्तु फिर अमेरिका में कुछ ही महीने रहने के बाद उसे देखिए। उसकी शकल बदल जाती है और अब तो वह बहादुरी से अकड़कर चलता है। कारण, वह ऐसे देश से आया था जहाँ वह अपने को एक दास ही समझता था, पर आज वह एक ऐसे देश में आगया है जहाँ सब के साथ वह भाई के समान है।

"विश्वास करना होगा कि आत्मा अविनाशी है और अनन्त तथा सर्वशक्तिमान है। हमारा विश्वास है कि गुरु से साक्षात् सम्बन्ध रखकर गुरुगृह में निवास करने से ही यथार्थ शिक्षा की प्राप्ति होती है। गुरु से साक्षात् सम्बन्ध हुए बिना किसी प्रकार की शिक्षा का लाभ नहीं हो सकता। हमारे वर्तमान विश्वविद्यालयों की ही बात लीजिए। पचास साल हुए, उनका आरम्भ हुआ है, परन्तु

उनसे फल क्या मिला है ? वे एक भी मौलिक-भाव-सम्पन्न व्यक्ति उत्पन्न नहीं कर सके । वे परीक्षा लेनेवाली संस्थाएँ मात्र हैं। साधारण जनता की जागृति और उसके कल्याण के लिए स्वार्थत्याग की मनोवृत्ति का थोड़ा भी विकास हममें नहीं हुआ है।"

प्रश्न—"मिसेज़ बेसेन्ट और थियासॉफी के विषय में आपका क्या मत है ?"

उत्तर—"मिसेज़ बेसेन्ट एक बड़ी अच्छी महिला हैं। उन्होंने हमें अपने लन्दन के वक्तृतागृह (Lodge) में भाषण देने के लिए बुलाया था । हम व्यक्तिगत रूप से उनके सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं जानते। परन्तु यह सत्य है कि हमारे धर्म के विषय में उनका ज्ञान बहुत ही अल्प है । उन्होंने इधर उधर से थोड़ी बहुत जानकारी प्राप्त कर ली है । सम्पूर्ण रूप से हिन्दू धर्म का अध्ययन करने का अवकाश उनको नहीं मिला । परन्तु उनके शत्रु तक उनकी निष्कपटता को अवश्य ही स्वीकार करेंगे। इंग्लैंड में वे सर्वश्रेष्ठ वक्ता मानी जाती हैं। वे एक संन्यासिनी हैं। परन्तु हम 'महात्मा', 'कुथुमि' आदि में विश्वास नहीं करते। वे थियासॉफिकल सोसाइटी के साथ अपना सम्बन्ध छोड़ दें और अपने पैरों पर खड़ी हों, जिसे सत्य समझती हों उसका प्रचार करें।"

समाज-संस्कार के विषय में बात चलने पर स्वामीजी ने विधवा-विवाह के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—"हमने आजतक ऐसी कोई भी जाति नहीं देखी जिसकी उन्नति

या शुभाशुभ उसकी विधवाओं के पतियों की संख्या पर निर्भर हो। ”

हमारे प्रतिनिधि जानते थे कि और भी कुछ लोग स्वामीजी से मिलने के लिए नीचे प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिए उन्होंने स्वामीजी को उनके कष्ट के लिए धन्यवाद देकर उनसे विदा ली।

यहाँ पर यह भी कह देना आवश्यक है कि स्वामीजी के साथ मिस्टर और मिसेज़ जे. एच. सेविअर, मि० टी. जी. हैरिसन (कोलम्बो के एक बौद्ध सज्जन), और मि० जे. जे. गुडविन भी हैं। मि० और मिसेज़ सेविअर स्वामीजी के साथ इस देश में हिमालय में निवास करने की इच्छा से आए हैं। स्वामीजी के जिन पाश्चात्य शिष्यों की भारत में निवास करने की इच्छा होगी, उनके लिए हिमालय में आश्रम बनाने का संकल्प उनके मन में है। बीस साल तक वे (मि० और मिसेज़ सेविअर) किसी विशेष धर्मसम्प्रदाय के अनुयायी नहीं बने थे। विभिन्न सम्प्रदायों के साधारण प्रचारकों से वे जो कुछ धर्म के बारे में सुनते थे उससे उनकी तृप्ति नहीं होती थी। स्वामीजी के कुछ भाषण सुनते ही उनको यह अनुभव हुआ कि उन्हें अब ऐसे एक धर्म की प्राप्ति हो गई है, जिससे उनका हृदय और बुद्धिवृत्ति दोनों ही तृप्त हो गए। उसके बाद वे स्विट्ज़र-लैण्ड, जर्मनी और इटली आदि स्थानों में स्वामीजी के साथ भ्रमण करके अब भारत में पहुँच गए हैं। मि० गुडविन इंग्लैंड में एक संवादपत्र-संचालक थे। चौदह महीने पहले न्यूयार्क में स्वामीजी से

उनकी प्रथम भेंट हुई थी । धीरे धीरे वे भी स्वामीजी के शिष्य हो गए और पत्र का काम उन्होंने छोड़ दिया । अब उन्होंने स्वामीजी की सेवा में ही तन-मन अर्पित कर दिया है और उनके साथ निरन्तर रहकर उनके सब भाषणों को सांकेतिक लिपि में लिखते रहते हैं । वे सब प्रकार से स्वामीजी के शिष्य बन गए हैं और कहते भी हैं कि मेरी यह आकांक्षा है कि आजन्म मैं स्वामीजी की सेवा में ही रहूँ ।

---

८. जातीय भित्ति पर हिन्दू धर्म का पुनः संस्थापन

(प्रबुद्ध भारत, सितम्बर १८९८)

हाल ही में प्रबुद्ध भारत के एक प्रतिनिधि कुछ विषयों में स्वामी विवेकानन्द जी का मतामत जानने के लिए उनसे मिलने आए थे। उन्होंने उन आचार्यश्रेष्ठ स्वामीजी से पूछा—"स्वामीजी, आपके मतानुसार आपके धर्मप्रचार का विशेषत्व किस बात में है?"

प्रश्न को सुनते ही स्वामीजी ने यह उत्तर दिया—"परव्यूहभेद (Aggression) ही हमारे धर्मप्रचार का विशेषत्व है। परन्तु इस शब्द का मैं केवल आध्यात्मिक अर्थ में ही व्यवहार करता हूँ। अन्यान्य समाज तथा सम्प्रदायों ने केवल भारत में ही प्रचार किया है, परन्तु बुद्धदेव के बाद हम ही पहले पहल भारत की सीमा को लाँघकर समग्र संसार में धर्मप्रचार की लहरें फैलाने की कोशिश कर रहे हैं।"

प्रश्न—"और आपके मत में आपके द्वारा प्रवर्तित धर्मविषयक इस आन्दोलन से भारत का कौनसा उद्देश्य साधित होगा?"

उत्तर—"इससे हिन्दू धर्म के साधारण मूलतत्त्वों पर प्रकाश पड़ेगा और वे तत्त्व समग्र जाति के सम्मुख जीवित रूप में पुनः स्थापित होंगे। वर्तमान काल में हिन्दू कहने से भारतीय तीन मुख्य

सम्प्रदायवाले समझे जाते हैं । प्रथम कट्टरपन्थी अर्थात् लकीर के फकीर; दूसरा—मुसलमानों के समय का सुधारक सम्प्रदाय और तीसरा वर्तमानकालीन समाज-संस्कारक संघ । आजकल समस्त भारत में सिर्फ एक विषय में सब हिन्दुओं का एकमत दिखाई पड़ता है, और वह है—गोमांस-भक्षण का निषेध । ”

प्रश्न—“ क्या वेद के विश्वास के विषय में भी एकमत नहीं देखा जाता है ? ”

उत्तर—“ बिलकुल नहीं । हम तो इसी विषय में भारत को पुनः प्रबुद्ध कराना चाहते हैं । भारत आज तक भी बुद्धदेव के भाव को अपना नहीं सका । बुद्धदेव की वाणी सुनकर प्राचीन भारत केवल मन्त्रमुग्ध जैसा चकित रह गया था,—नवीन बल से संजीवित नहीं हुआ था । ”

प्रश्न—“ वर्तमान काल में आप बौद्ध धर्म के प्रभाव को भारत में किन विषयों में देख रहे हैं ? ”

उत्तर—“ बौद्ध धर्म का प्रभाव भारत में सर्वत्र ही स्पष्ट दिखाई देता है । आप देखेंगे कि भारत कभी भी किसी प्राप्त वस्तु को नष्ट नहीं होने देता; हो सकता है कि उसे अपनाने में, उसे अपने खून के साथ एक कर लेने में कुछ समय लगता हो । बुद्धदेव ने यज्ञ में प्राणिहिंसा का पूर्ण निषेध किया था; भारत आज तक उस शिक्षा का त्याग नहीं कर सका । बुद्धदेव ने कहा—‘ गोहत्या मत करो ’ —अब देखिए गौ की हत्या हमारे लिए असम्भव हो रही है या नहीं ? ”

प्रश्न—“ स्वामीजी, आपने पहले जिन तीन सम्प्रदायों के नाम बताए हैं उनमें से आप अपने को किस सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं ? ”

उत्तर—“ हम तो उक्त सब सम्प्रदायों के अन्तर्गत हैं । हम ही तो वास्तव में ठीक ठीक कट्टर हिन्दू हैं । ”

यह कहते ही स्वामीजी गम्भीर भाव से और बड़े आवेग के साथ एकदम बोल उठे—“ किन्तु छुआछूत-मार्गियों के साथ हमारा कोई भी सम्बन्ध नहीं । छुआछूत हिन्दू धर्म नहीं है, इसकी बात हमारे किसी भी शास्त्र में नहीं है । वह तो प्राचीन आचरण से असिद्ध, उससे विपरीत एक कुसंस्कार मात्र है । और वह तो सर्वदा जातीय अभ्युदय का प्रबल प्रतिबन्धक रहा है । ”

प्रश्न—“ तब तो असल में आप जातीय अभ्युत्थान को ही चाहते हैं ? ”

उत्तर—“ अवश्य । भारत समग्र आर्य जाति से पिछड़ा हुआ क्यों रहे, इसका कुछ कारण आप बता सकते है ? भारत क्या बुद्धिवृत्तिहीन है ? क्या यहाँ कला-कौशल नहीं है ? उसका शिल्प, उसका गणित, उसके दर्शनशास्त्र आदि का विचार करने पर किस विषय में आप उसे कम पाते हैं ? आवश्यक इतना ही है कि भारत मोह-निद्रा से—सैकड़ों सदियों की दीर्घ निद्रा से जग जाय, और संसार की समग्र जातियों के बीच उसका जो निजी कर्तव्य है, उसे पूरा करे । ”

प्रश्न—"परन्तु, स्वामीजी, बात यह है कि भारत तो चिरकाल से ही गम्भीर अन्तर्दृष्टिसम्पन्न जाति है । अब उसे कर्मकुशल बनाने की कोशिश करने से उसकी जो एकमात्र निजी सम्पत्ति—धर्मरूपी परम धन—है उससे वंचित होने की क्या आशंका नहीं है ?"

उत्तर—"नहीं, कुछ भी आशंका नहीं है। अतीत के इतिहास से प्रतीत होता है कि आज तक भारत में आध्यात्मिकता या अन्तर्जीवन का, तथा पाश्चात्य में बाह्य जीवन अर्थात् कर्मकुशलता का ही विशेष विकास होता आया है । आज तक ये दोनों विपरीत मार्ग से उन्नति की ओर अग्रसर हो रहे थे; परन्तु अब इन दोनों के सम्मिलन का समय आ गया है । श्रीरामकृष्ण देव गम्भीर अन्तर्दृष्टि-परायण थे; परन्तु बहिर्जगत् में भी उनके समान कर्म-तत्पर कौन है ? रहस्य यहीं पर है । मनुष्य-जीवन समुद्र के समान गम्भीर तो अवश्य ही होना चाहिए, पर साथ ही साथ उसे आकाश की भाँति विस्तृत भी होना चाहिए ।"

स्वामीजी कहने लगे—"आश्चर्य का विषय तो यह है कि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि बाह्य परिस्थितियाँ संकीर्णता की पोषक एवं उन्नति के प्रतिकूल रहीं, परन्तु फिर भी आध्यात्मिक जीवन का गम्भीर रूप से विकास हुआ; किन्तु इन दोनों विपरीत भावों का एकत्र अवस्थान एक आकस्मिक घटनामात्र है—अपरिहार्य नहीं । यदि हम भारत में इस विषय में सामञ्जस्य स्थापित कर सकें तो समग्र जगत् भी ठीक मार्ग पर चल सकेगा, क्योंकि मूलतः क्या हम सब एक ही नहीं हैं ?"

प्रश्न—"स्वामीजी, आपके ये सब मत सुनकर मन में और भी एक प्रश्न का उदय हुआ है। इस प्रबुद्ध नवीन हिन्दू धर्म में श्रीरामकृष्ण देव का स्थान कहाँ पर है?"

स्वामीजी बोले—"इस विषय की मीमांसा करना हमारा कार्य नहीं है। हमने कभी किसी व्यक्तिविशेष का प्रचार नहीं किया है। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि इस महात्मा के प्रति गम्भीर श्रद्धा और भक्ति द्वारा ही मेरा जीवन नियन्तृत तथा परिचालित हुआ है; परन्तु मेरा यह भाव दूसरे लोग कहाँ तक ग्रहण करेंगे, यह तो उन्ही पर निर्भर है। कोई भी व्यक्ति, वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, केवल उसी के द्वारा ईश्वरीय शक्ति का स्रोत चिरकाल तक जगत् में प्रवाहित होगा सो बात नही है। प्रत्येक युग में नये सिरे से, पुनः पुनः इस प्रकार की ईश्वरीय शक्ति को प्राप्त करना होगा; क्योंकि हम सभी क्या ब्रह्म स्वरूप नही है?"

प्रश्न—"धन्यवाद। मुझे आपसे एक और प्रश्न पूछना है। आपने अपनी जाति के लिए अपने प्रचार-कार्य का उद्देश्य तथा प्रयोजन बतला दिया है। इसी तरह क्या आप उसके साधन के विषय में भी कुछ बतलाने की कृपा करेंगे?"

स्वामीजी ने कहा—"हमारी कार्यप्रणाली का वर्णन सहज ही में हो सकता है। वह प्रणाली तो सिर्फ जातीय जीवनादर्श का पुनः संस्थापन है। बुद्धदेव ने त्याग का प्रचार किया—भारत ने उसे सुना; छः शताब्दियाँ बीतने के पहले ही भारत ने अपने सर्वोच्च

गौरव-शिखर पर आरोहण किया। यही तो रहस्य है। 'त्याग' और 'सेवा' भारत के जातीय आदर्श हैं—उन दोनों में भारत को उन्नत कीजिए। ऐसा होने पर सब कुछ अपने आप ही उन्नत हो जायगा। इस देश में धर्म का लक्ष्य कितना ही ऊँचा क्यों न किया जाय, किन्तु वह पर्याप्त नहीं होता। बस इसी कार्य के ऊपर भारत का उद्धार निर्भर है।"

---

९. भारतीय नारी—उसका अतीत, वर्तमान तथा भविष्य

(प्रबुद्ध भारत, दिसम्बर १८९८)

प्रबुद्ध भारत के विशेष संवाददाता से हिमालय की मनोहर उपत्यका में एक दिन रविवार प्रातः समय भेंट करते हुए स्वामी विवेकानन्दजी ने भारतीय स्त्रियों की वर्तमान स्थिति तथा उनके भविष्य के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रकट किये थे। इस अवसर पर संवाददाता को भेंट के लिये आया देखकर स्वामीजी बोले, "आइये, हम भ्रमणार्थ चलें।" वह लिखता है कि स्वामीजी के साथ भ्रमण के समय मुझे विश्व के कुछ नितान्त सुन्दर प्राकृतिक दृश्य देखने को मिले। कहीं धूप और कहीं छाया से ढके मार्गों को काटते हुए हम शान्ति-पूर्ण ग्रामों में से चले जा रहे थे। कहीं ग्रामीण बच्चे आनन्द से खेल-कूद कर रहे थे, और कहीं चारों ओर सुनहले खेत लहलहा रहे थे। ऊँचे-ऊँचे वृक्ष ऐसे दीखते थे मानो नील गगन को पार कर उसके परे जाना चाहते हों। खेतों में एक ओर कुछ कृषक बालायें हाथों में हंसिया लिये शीतऋतु के लिये बाजरी के भुट्टों को काट कर एकत्रित कर रही थीं तो दूसरी ओर सेबों की एक सुंदर वाटिका दिखाई देती थी जिसमें वृक्षों के नीचे आरक्त फलों के ढेर बड़े ही सुहावने लगते थे। अब हम तलहटी पार कर एक विस्तृत मैदान

में आ गये थे जिसके दूसरी ओर हिमाच्छादित उन्नतमस्तक पर्वतराज शुभ्र बादलों को भेदकर बड़ी सुन्दरता से दण्डायमान थे।

लम्बी स्तब्धता के उपरान्त अन्त में मेरे साथी ने शान्ति भंग करते हुए कहा—"आर्यावर्त और सेमिटिक देशों की स्त्री-जीवन की कल्पनाओं में आकाश पाताल का अन्तर है। सेमिटिक सभ्यता में स्त्री की उपस्थिति ईश्वरोपासना के लिये घातक समझी गई है, और उसे कोई भी धार्मिक कृत्य करने का अधिकार नहीं है, यहाँ तक कि भोजन के लिये प्रयुक्त पक्षी को भी काटना उसके लिये निषिद्ध है। इसके विपरीत आर्य सभ्यता में गृहस्थ, स्त्री के बिना कोई भी धार्मिक कृत्य नहीं कर सकता।"

स्वामीजी के मुख से इस प्रकार के अद्भुत विचार सुनकर मैं आश्चर्यान्वित हो गया, और मैंने स्वामीजी से पूछा, "स्वामीजी, क्या हिन्दू धर्म आर्य नहीं है?"

स्वामीजी बोले, "आधुनिक हिन्दू धर्म अधिकांश एक पौराणिक धर्म है जिसका उद्गम बौद्धकाल के पश्चात् हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक स्थान पर लिखा है कि गृहस्थाश्रम में वैदिक रीति के अनुसार होनेवाले संस्कार एवं अग्निहोत्र में स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य है, तथापि कई स्थानों में प्रचलित रीति के अनुसार वहीं स्त्री अपने घर में स्थित शालग्राम शिला या गृहदेवता की मूर्ति को हाथ नहीं लगा सकती, क्योंकि इस प्रकार की पूजा का उद्गम पौराणिक काल के उत्तरार्ध में पाया जाता है।"

"अतः आपके अनुसार हमारे देश में पाया जानेवाला स्त्री-पुरुष का भेद पूर्णतः बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण है ?"

"अवश्य ही, जो कुछ भेद आज पाया जाता है उसका मूल बौद्ध धर्म में ही निहित है, परन्तु युरोपियन आलोचना से भयभीत होकर और भारतीय एवं युरोपीय संस्कृति में गहरा भेद देखकर हमें यह न समझ बैठना चाहिये कि भारतीय संस्कृति में स्त्री का अनादर किया गया है। विगत कई सदियों में भारत की राज-नीतिक और सामाजिक स्थिति ऐसी थी कि स्त्रियों को विशेष संरक्षण की आवश्यकता थी। भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा का मूलभूत कारण हमारी संस्कृति में स्त्री जाति की हीनता नहीं, वरन् देश की उपर्युक्त परिस्थिति ही है।"

"स्वामीजी, तो क्या आप भारतीय स्त्री की वर्तमान दशा से पूर्णतः सतुष्ट है ?"

"कदापि नहीं, परन्तु इस दशा में सुधार का साधन यही है कि हम स्त्रियों को उचित शिक्षा दें, और उसके उपरान्त वे स्वयं अपनी समस्याओं को सुलझा लेंगी। हमें उनकी सभी समस्याओं में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ऐसा करने पर भारतीय स्त्रियाँ अपनी समस्याओं को हल करने में संसार के किसी भी भाग की स्त्रियों से पीछे नहीं रहेंगी।"

"स्वामीजी, क्या आप बतला सकते हैं कि हमारे देश में किस प्रकार बौद्धधर्म से स्त्रियों की हीनता का प्रादुर्भाव हुआ ?"

स्वामीजी--" इस हीनता का प्रादुर्भाव बौद्धधर्म के पतन-काल में ही हुआ। कोई भी आन्दोलन किसी एक नवीन विशेषता के कारण जगत् में शीघ्र ही फैल जाता है, परन्तु जब उसका पतन होता है तब उसकी यह अभिमानास्पद विशेषता ही उसकी दुर्बलता का मुख्य कारण बन जाती है। भगवान बुद्ध की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में है। वे अत्यन्त संगठन-कुशल थे, और इसी कुशलता के कारण संसार के बहुजन समाज को अपनी ओर आकर्षित कर सके थे। बौद्धधर्म की एक बड़ी विशेपता उसके मठ थे; वास्तव में बौद्धधर्म को मठों का धर्म भी कह सकते है। मठों का एक स्वाभाविक कुपरिणाम यह हुआ कि प्रत्येक काषाय वस्त्रधारी सम्मानास्पद होगया। समयान्तर से इन मठों ने विशाल रूप धारण कर लिया और उनके सामाजिक जीवन का अधिकाधिक विस्तार होता गया। इसका एक अनिवार्य फल यह हुआ कि भिक्षुणियों का स्थान भिक्षुओं की अपेक्षा निम्न हो गया, क्योंकि किसी श्रेष्ठ भिक्षुणी के लिये भी भिक्षु की आज्ञा एवं अनुमति बिना कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य करना निषिद्ध था। यद्यपि इसका एक तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि मठों में और बौद्ध धर्म के परिव्राजकों में अनुशासन और सदाचार की वृद्धि हुई, परन्तु अन्ततोगत्वा इसके कुछ परिणाम खेदजनक भी हुए।"

" परन्तु स्वामीजी, संन्यासधर्म तो वेदविहित है।"

" अवश्य ही संन्यास वेद-प्रतिपादित है, परन्तु वैदिक सिद्धान्त के अनुसार संन्यासाश्रम में स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं

रहता । क्या आपको ज्ञात है कि विदेहराज जनक की राजसभा में किस प्रकार धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर महर्षि याज्ञवल्क्य से वाद-विवाद हुआ था? इस वाद-विवाद में ब्रह्मवादिनी वाचक्नवी ने प्रधान भाग लिया था । उसने कहा था, 'मेरे दो प्रश्न मानो कुशल धनुर्धारी के हाथ में के दो तीक्ष्ण बाण हैं ।' उपनिषद में जहाँ वह प्रसंग आया है वहाँ पर उसके स्त्री होने पर आश्चर्य का कोई संकेत तक उपलब्ध नहीं होता । आपको विदित ही होगा कि प्राचीन गुरुकुलों में बालक और बालिकायें समान रूप से शिक्षा ग्रहण करते थे । क्या आपने संस्कृत भाषा के सुन्दर नाटकों का अध्ययन किया है? शकुन्तला नाटक को ही देखिये; क्या इस महान ग्रन्थ की तुलना में टेनिसन की 'राजकुमारी' में हमारे लिये कोई शिक्षाप्रद एवं ग्राह्य वस्तु प्राप्त हो सकती है?"

"स्वामीजी, हमने आज तक अपने अतीत की विस्मृत गौरव-गरिमा का इतने चित्ताकर्षक रूप में कभी श्रवण नहीं किया था । आप में उसे प्रकट करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान है।"

स्वामीजी शान्तिपूर्वक बोले, "सम्भव है, इसका कारण यह हो कि मैंने पृथ्वी के दोनों गोलार्धों का पर्यटन किया है । मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जिस जाति ने सीता देवी को उत्पन्न किया—सम्भव है, यह कल्पना मात्र ही हो—उस जाति में स्त्री-जाति के लिये इतना अधिक सम्मान तथा श्रद्धा है कि उसकी तुलना संसार के अन्य किसी भाग में नहीं हो सकती । पाश्चात्य स्त्रियाँ कई ऐसे कानूनी बन्धनों से जकड़ी हुई हैं जिनसे भारतीय स्त्रियाँ सर्वथा

मुक्त एवं अपरिचित हैं । भारतीय समाज में गुण और दोष दोनों विद्यमान हैं और यही स्थिति पाश्चात्य समाज की है । यह तो मानना ही पड़ेगा कि जगत् के सभी भागों में प्रीति, कोमलता और सत्यनिष्ठा को अभिव्यक्त करने का यत्न किया जाता है, और प्रत्येक देश में इन्हें व्यक्त करने की सामाजिक रीतियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। जहाँ तक गार्हस्थ्य जीवन का सम्बन्ध है, मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि भारतीय प्रणाली में अन्य देशों की अपेक्षा अनेक सद्‌गुण विद्यमान हैं । "

" स्वामीजी, तो क्या भारतीय स्त्री-जीवन के सम्बन्ध में हम इतने संतुष्ट हैं कि हमारे समक्ष उसकी कोई भी समस्यायें नहीं हैं ? "

" अवश्य ही हमें भारतीय स्त्री-जीवन की अनेक गंभीर समस्यायें सुलझानी हैं, परन्तु इनमें से कोई भी ऐसी नहीं है जो शिक्षा के चमत्कारपूर्ण शस्त्र से स्वयमेव हल न हो जायगी, परन्तु शिक्षा की सच्ची कल्पना हममें से कदाचित् ही किसी को हो । "

" स्वामीजी, शिक्षा की आप की क्या परिभाषा है ? "

स्वामीजी ने स्मित हास्य से कहा, " मैं परिभाषायें देने के विरुद्ध हूँ । परन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सच्ची शिक्षा वह है जिससे मनुष्य की मानसिक शक्तियों का विकास हो । वह केवल शब्दों को रटना ही नहीं है । वह व्यक्ति की मानसिक शक्तियों का एक ऐसा विकास है जिससे वह स्वयमेव स्वतन्त्रतापूर्वक विचार कर ठीक-ठीक निश्चय कर सके । हम चाहते हैं कि भारत की स्त्रियों

को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वे निर्भय होकर भारत के प्रति अपने कर्तव्य को भली भाँति निभा सकें और संघमित्रा, लीला, अहिल्याबाई और मीराबाई आदि भारत की महान् देवियों द्वारा चलाई गई परम्परा को आगे बढ़ा सकें एवं वीरप्रसू बन सकें। भारत की स्त्रियाँ पवित्र और त्यागमूर्ति हैं, क्योंकि उनके पास वह बल और शक्ति है जो सर्वशक्तिमान परमात्मा के चरणों में सर्वार्पण करने से प्राप्त होती है।"

"स्वामीजी, इससे प्रतीत होता है कि आपके विचारानुसार शिक्षा में धार्मिक शिक्षा का भी समावेश होना चाहिये।"

स्वामीजी ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म तो शिक्षा का मेरुदण्ड ही है। हाँ, यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ धर्म से मेरा मतलब मेरा, आपका या अन्य किसी का धर्ममत नहीं है। अन्य विषयों के समान अध्यापक को इसके सम्बन्ध में भी छात्र को प्रारम्भिक मार्गदर्शन कराना चाहिये और उसे कम से कम विरोध के साथ अपना मार्ग खोजने के योग्य भी बनाना चाहिये।"

"धर्म ने ब्रह्मचर्यव्रत की प्रशंसा कर माता एवं पत्नी से उनका उच्च पद छीन, उसे (उस उच्च पद को) उन्हें प्रदान किया जो इन सम्बन्धों को टालते हैं। क्या यह स्त्रीजाति पर सीधा आघात नहीं है?"

"आपको स्मरण रहना चाहिये कि यदि धर्म स्त्रियों के लिये ब्रह्मचर्य की उच्चता एवं महानता दिखाता है तो वह पुरुषों के लिये भी ब्रह्मचर्य की उतनी ही उच्चता और महानता प्रदर्शित करता है।

आपके प्रश्न से यह भी ज्ञात होता है कि आपके मन में बड़ी गड़बड़ी मची हुई है। हिन्दूधर्म में मानवी आत्मा का केवल एकमेव कर्तव्य बतलाया गया है और वह है इस अनित्य और नश्वर जगत् में नित्य एवं शाश्वत पद की प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिये कोई एक ही निश्चित मार्ग नहीं है। ब्रह्मचारी हो या गृहस्थ, पापी हो या पुण्यात्मा, ज्ञानी हो या अज्ञानी, सब का जीवन सार्थक हो सकता है यदि वह उसे उस ध्येय की ओर ले जा सकता है। इसी अर्थ में हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म में महान् अन्तर है। हिन्दू धर्म में एक उद्देश्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग एवं साधन बतलाये गये हैं, एक निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्गों का विधान है, परन्तु बौद्ध धर्म में जीवन का प्रधान आदेश बाह्य जगत् की क्षणिकता का अनुभव कर लेना ही है और मोटे रूप से वह एक ही मार्ग द्वारा हो सकता है। क्या आपको महाभारत में वर्णित युवक योगी का वृत्तान्त विदित है जिसने अत्यन्त क्रोध के कारण अपनी प्रबल मानासिक शक्ति के प्रभाव से एक कौए और क्रौंच को भस्म कर दिया था? एक दिन यही योगी किसी नगर में पहुँचकर क्या देखता है कि एक स्त्री अपने रोगी पति की सेवा-शुश्रूषा में निरत है, एक अन्य स्थान में एक धर्मव्याध नामक कसाई मांस-विक्रय कर रहा है, परन्तु इन दोनों को अपने कर्तव्य का पूर्णतः पालन करने से ज्ञान की पूर्ण प्राप्ति हो चुकी थी।"

"अतः स्वामीजी, आपका इस देश की स्त्रियों के लिये क्या संदेश है?"

"मेरा तो इस देश की स्त्रियों के लिये वही संदेश है जो पुरुषों के लिये है। हमें भारतवर्ष में और भारतीय धर्म में पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास रखना चाहिये। हमारा राष्ट्र तेजस्वी बने, उसे अपने भविष्य में विश्वास हो। हमें अपने जीवन एवं धर्म की महत्ता पर अभिमान होना चाहिये, न कि लज्जा। स्मरण रखिये कि हिन्दू जाति को संसार के अन्य देशों से कुछ तो ग्रहण करना अवश्य है, परन्तु उसे जो संसार को देना है वह उससे सहस्रगुना अधिक है।"

१०. हिन्दू धर्म की मर्यादा

(प्रबुद्ध भारत, अप्रैल १८९९)

हमारे प्रतिनिधि लिखते हैं—

अन्य धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में लाने के विषय में स्वामी विवेकानन्दजी का मतामत जानने के लिए सम्पादक महोदय ने हमें आदेश दिया था कि हम उनसे जाकर मिल लें। एक दिन सायंकाल गंगाजी में नौका की छत पर बैठकर उस विषय में वार्तालाप का सुयोग हमें मिला। उस समय सन्ध्या हो गई थी। बेलुड़ स्थित श्रीरामकृष्ण मठ के घाट के पास ही हमारी नौका खड़ी हुई। स्वामीजी मठ से नौका में हमारे साथ वार्तालाप करने के लिए आए।

स्थान और काल दोनों ही परम रमणीय थे। ऊपर आकाश में तारे चमक रहे थे, कलकलनादिनी जाह्नवी बह रही थीं। एक ओर अस्पष्ट आलोक से संयुक्त मठ-भवन दीख रहा था और उसके पीछे छाया देने वाले बड़े बड़े वृक्षों के साथ तालवृक्ष चमक रहे थे।

हमीं ने पहले वार्तालाप शुरू किया। हमने कहा— "स्वामीजी, जिन लोगों ने हिन्दू धर्म का त्याग कर अन्य धर्मों को ग्रहण किया है उन्हें फिर से हिन्दू धर्म में लाने के विषय में आपका क्या मत है? उसी को जानने के लिए हम आप से मिलने आये हैं। आपके मत में क्या उनका पुनर्ग्रहण किया जा सकता है?"

स्वामीजी बोले——

"निश्चित ही उनका पुनर्ग्रहण हो सकता है; और यह करना उचित भी है।"

एक मुहूर्त के लिए स्तब्ध रहकर गम्भीर चिन्ता के बाद वे फिर से कहने लगे——"और भी एक बात है कि उनका पुनर्ग्रहण न करने पर हमारी संख्या दिनोंदिन घटती जायगी। प्राचीनतम मुसलमान इतिहासकार फरिस्ता के मतानुसार मुसलमानों के इस देश में प्रथम आगमन के समय यहाँ के हिन्दुओं की संख्या साठ करोड़ थी। अब हम बीस करोड़ में उतर आए हैं! और भी एक बात यह है कि किसी एक व्यक्ति के हिन्दू समाज को त्यागने से केवल हमारे समाज का एक व्यक्ति ही कम हो जाता हो ऐसी बात नहीं, बल्कि हमारे शत्रु की संख्या में भी एक की वृद्धि हो जाती है। उसी प्रकार जो लोग हिन्दू धर्म का त्याग कर मुसलमान या ईसाई बन गये थे उनमें से अधिकांश लोग तलवार के बल पर उन उन धर्मों को ग्रहण करने के लिए बाध्य किए गए थे, अथवा आजकल जो मुसलमान या ईसाई हैं, उनमें से अधिकांश इन्हीं लोगों के वंशज हैं। इनके हिन्दू धर्म में लौटने के विषय में विरोध उपस्थित करना अथवा बाधा डालना अत्यन्त अन्याय है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। और आप क्या उन विजातीयों के सम्बन्ध में पूछ रहे थे, जो हिन्दू समाज के अन्तर्गत कभी भी नहीं थे? परन्तु बात तो यह है कि अतीत काल में ऐसे लाखों विधर्मियों को भी हिन्दू धर्म में ले लिया गया था और अभी भी वैसा ही हो रहा है।

"हमारे मत में भारत की असभ्य जातियाँ, भारत के बाहर की जातियाँ और मुसलमान अधिकार के पूर्व प्रायः हमारे समस्त विजेतागण—इन सभी पर यह बात लागू हो सकती है। केवल इतना ही नहीं बल्कि पुराणों में जो नई नई जातियों की उत्पत्ति की कथा है, उस विषय में भी यही बात सत्य है। हमारे मत में ये सब लोग विधर्मी थे और उनको हिन्दू बनाया गया था।

"जो लोग स्वेच्छा से दूसरे धर्म में चले गए थे, पर अब फिर हिन्दू धर्म में आना चाहते हैं, उन्हें प्रायश्चित्त का अनुष्ठान करना होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं। परन्तु जिनका परधर्म-ग्रहण बलपूर्वक हुआ था—जैसे कि काश्मीर और नेपाल में इस प्रकार के बहुत से लोग देखे जाते हैं अथवा जो लोग कभी हिन्दू नहीं थे, परन्तु अब हिन्दू समाज में आना चाहते हैं—उन सबके बारे में प्रायश्चित्त का विधान नहीं होना चाहिए।"

फिर हमने कुछ साहस के साथ प्रश्न पूछा—

"स्वामीजी, बात यह है कि इन लोगों की कौन सी जाति होगी? उनके लिए भी तो किसी न किसी जाति के अन्तर्गत रहना आवश्यक है; नहीं तो वे कभी भी इस विशाल हिन्दू समाज में अन्तर्भूत होकर उसके साथ सम्मिलित नहीं हो सकेंगे। हिन्दू समाज में उनका यथार्थ स्थान कहाँ पर है?"

स्वामीजी धीरे से बोले—"जो लोग पहले हिन्दू थे, वे अवश्य ही अपनी पहली जाति के बन जायेंगे; और जो नये आयेंगे, वे अपनी जाति को आप ही बना लेंगे।"

स्वामीजी फिर कहने लगे—"आपको याद रखना चाहिए कि वैष्णव समाज में यह बात पहले से ही देखी जाती है। अहिन्दू तथा हिन्दुओं की विभिन्न जातियों में से जिन्होंने अन्य धर्म ग्रहण किया था, उन सभों ने वैष्णव समाज के आश्रय में आकर हिन्दू समाज के अन्तर्गत ही अपनी स्वतन्त्र जाति की सृष्टि कर ली है; और वह जाति भी कोई तुच्छ हीन जाति नहीं है—वह तो अच्छी शिष्ट जाति ही बनी। आचार्य रामानुज से लेकर बंगाल के श्रीचैतन्य महाप्रभु तक समस्त वैष्णव आचार्यों ने यह कार्य किया है।"

हमने पूछा—"इस नवीन जाति का विवाह-संस्कार आदि कहाँ होगा?"

स्वामीजी ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"क्यों आजकल जैसा चल रहा है, वैसा ही होगा। वे आपस में विवाह कर लेंगे।"

हमने कहा—"इसके बाद नामकरण की बात है। हमारी राय में अहिन्दू, तथा जिन्होंने स्वधर्म का त्याग कर अहिन्दू नाम रख लिया था, उन दोनों का नया नामकरण होना उचित है। उन्हें कोई जातिसूचक नाम देना चाहिए या अन्य किसी प्रकार का?"

स्वामीजी सोचते हुए कहने लगे—"हाँ, नाम की भी शक्ति बहुत है।"

वे इस विषय में और अधिक कुछ नहीं बोले। परन्तु उसके बाद हमने जो प्रश्न किया, उस विषय में उनका आग्रह बहुत ही प्रतीत हुआ। हमने पूछा—"स्वामीजी, ये नवागत लोग क्या

हिन्दू धर्म की पृथक् शाखाओं में से अपने लिए किसी धर्मप्रणाली का निर्वाचन स्वयं ही कर लेंगे या आप उनके लिए योग्य धर्मप्रणाली का निर्देश करेंगे ? "

स्वामीजी बोले—"क्या यह भी कोई पूछने की बात है ? वे अपने योग्य पथ का निर्वाचन खुद ही कर लेंगे, क्योंकि स्वयं निर्वाचन न करना हिन्दू धर्म के मूल तत्त्व के विरुद्ध है। हमारे धर्म का तो यही सार है कि अपने इष्ट का निर्वाचन स्वयं ही कर लें।"

स्वामीजी की इसी बात को हम विशेष मूल्यवान समझते हैं; क्योंकि हमारे मतानुसार हमारे सम्मुख स्थित इस व्यक्ति ने ही संसार के सब मनुष्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा सबसे अधिक सहानभूतिपूर्ण दृष्टि से हिन्दू धर्म की साधारण उदार भित्तियों की आलोचना की है और उनके अनुसन्धान में अनेक वर्ष बिताए हैं। इष्ट-निर्वाचन के स्वाधीनतारूपी जिस तत्त्व को उन्होंने बतलाया है वह इतना उदार है कि उसके भीतर समग्र जगत् का भी अनायास ही अन्तर्भाव हो सकता है।

इसके बाद दूसरे विषयों के बारे में वार्तालाप हुआ। अन्त में हार्दिक प्रेम के साथ हमसे विदा लेकर ये महान् आचार्य अपनी लालटेन साथ लेकर मठ में लौटे; और हम भी गंगाजी पर तरह तरह की नौकाओं को देखते हुए नौका पर कलकत्ते को अपने घर लौट आए।

---

११. प्रश्नोत्तर

(१)

(मठ की डायरी से)

प्रश्न—" गुरु किसे कह सकते हैं ? "

उत्तर—" जो तुम्हारे भूत-भविष्यत् के ज्ञाता हैं वही तुम्हारे गुरु हैं। देखो न, हमारे गुरुदेव ने हमारे भविष्य को बता दिया था। "

प्रश्न—" भक्ति-लाभ किस प्रकार होता है ? "

उत्तर—" भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है—केवल उसके ऊपर काम-काञ्चन का एक आवरण सा पड़ा हुआ है। उस आवरण को हटाने से ही भीतर की वह भक्ति स्वयं ही प्रकट हो जायगी। "

प्रश्न—" आप कहते हैं कि अपने पैरों पर खड़े हो जाओ। इस वाक्य में ' अपने ' शब्द से आप किस पर लक्ष्य करते हैं ? "

उत्तर—" अवश्य परमात्मा के ऊपर निर्भर रहने के लिए कहना ही हमारा उद्देश्य है। फिर भी इस ' कच्चे अहं ' के ऊपर निर्भरता का अभ्यास भी हमें धीरे धीरे सच्चे लक्ष्य में पहुँचा देगा; क्योंकि जीवात्मा भी तो परमात्मा की मायिक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। "

प्रश्न—“ यदि एक वस्तु ही यथार्थ रूप में सत्य है तो यह द्वैतबोध, जो सदा सर्वदा सबको हो रहा है, कहाँ से आया ? ”

उत्तर—“ जब किसी विषय का प्रथम अनुभव होता है, तो ठीक उसी काल द्वैतबोध नहीं होता । इन्द्रियों के साथ विषयों का संयोग होने के पश्चात् जब हम उस ज्ञान को बुद्धि में आरूढ़ कर लेते हैं तभी द्वैत का भान होता है । यदि विषयानुभूति के काल में द्वैतबोध रहता, तो ज्ञेय ज्ञाता से सम्पूर्ण स्वतन्त्र रूप में तथा ज्ञाता भी ज्ञेय से स्वतन्त्र रूप में अवस्थान कर सकता । ”

प्रश्न—“ सामञ्जस्य भाव के साथ चरित्रगठन करने का प्रकृत उपाय कौन सा है ? ”

उत्तर—“ जिनका चरित्र उस भाव से गठित हुआ हो उनका संग करना ही इसका सर्वोत्कृष्ट उपाय है । ”

प्रश्न—“ वेद के विषय में हमारी धारणा किस प्रकार की होनी चाहिए ? ”

उत्तर—“ वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं—हाँ, वेद के जो अंश युक्ति-विरोधी हैं, वे वेदशब्दवाच्य नहीं हैं । पुराणादि अन्यान्य शास्त्र वहीं तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे वेद से अविरोधी हैं । हमें यह जानना चाहिए कि वेद के प्रकाशन के बाद इस संसार में जहाँ कहीं और जो भी कोई धर्म-भाव आविर्भूत हुआ है, वह वेद से ही गृहीत है । ”

प्रश्न—“ यह जो सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि नामक चार

युगों का वर्णन शास्त्र में पाया जाता है, वह क्या ज्योतिषशास्त्र की गणना के अनुसार सिद्ध है अथवा केवल काल्पनिक ही है ? ”

उत्तर—“ वेदों में तो कहीं ऐसे चतुर्युग का उल्लेख नहीं है। यह पौराणिक युग की कल्पना मात्र है। ”

प्रश्न—“ शब्द और भाव के बीच क्या वास्तविक कुछ नित्य सम्बन्ध है ? अथवा किसी भी शब्द द्वारा कोई भी भाव समझाया जा सकता है ? क्या लोगों ने अपनी इच्छा के अनुसार किसी भी शब्द के साथ किसी भी भाव का सम्बन्ध जोड़ दिया है ? ”

उत्तर—“ इस विषय में अनेक तर्क किये जा सकते हैं और स्थिर सिद्धान्त में पहुँचना बड़ा कठिन है। मालूम होता है कि शब्द और अर्थ के बीच कुछ सम्बन्ध है ज़रूर; परन्तु वह सम्बन्ध नित्य है इसमें प्रमाण क्या है ? क्योंकि, देखो न, एक ही भाव को समझाने के लिए भिन्न भिन्न भाषाओं में कितने ही भिन्न भिन्न शब्द विद्यमान हैं। परन्तु एक सूक्ष्म सम्बन्ध हो सकता है ज़रूर जिसे हम अब भी नहीं जान पा रहे हैं। ”

प्रश्न—“ भारत में कार्यप्रणाली कैसी होनी चाहिए ? ”

उत्तर—“ पहले तो ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि सब लोग काम करना सीख जायँ और उनका शरीर स्वस्थ सबल हो जाय। ऐसे केवल बारह ही पुरुषसिंह संसार के ऊपर विजय प्राप्त कर सकते हैं; परन्तु लाख लाख भेड़ों द्वारा यह नहीं हो सकता। और दूसरी बात यह है कि व्यक्तिगत आदर्श कितना ही बडा क्यों न हो, उसकी शिक्षा नहीं देनी चाहिए। ”

इसके पश्चात् स्वामीजी ने कुछ हिन्दू प्रतीकों की किस प्रकार अवनति हुई, यह समझाया। उन्होंने ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग के भेद को भी समझाया। वास्तव में ज्ञानमार्ग ही आर्यों का था, और इसीलिए उसमें अधिकारी-विचार के बहुत कड़े नियम थे। और भक्तिमार्ग की उत्पत्ति दाक्षिणात्य से—अनार्य जाति से हुई है, इसलिए उसमें अधिकारी-विचार नहीं है।

प्रश्न—"भारत के इस पुनरुत्थान के कार्य में रामकृष्ण मिशन का कौन सा स्थान है?"

उत्तर—"इस मठ से चरित्रवान व्यक्ति निकलकर सारे संसार को आध्यात्मिकता की बाढ़ में प्लावित कर देंगे। इसके साथ साथ दूसरे विषयों में भी उन्नति होगी। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति का अभ्युदय होगा; शूद्रजाति और अधिक नहीं रहेगी। उनसे अब जो काम हो रहे हैं, वे सारे यंत्रों की सहायता से किये जायँगे। भारत का वर्तमान काल में अभाव है क्षत्रिय शक्ति का।"

प्रश्न—"क्या मनुष्य को दूसरे जन्म में पशु आदि हीन योनि की प्राप्ति हो सकती है?"

उत्तर—"बहुत सम्भव है। पुनर्जन्म कर्म के ऊपर निर्भर रहता है। लोग जब पशु के समान आचरण करते हैं, तो पशुयोनि में खींचे जाते हैं।"

प्रश्न—"मनुष्य फिर पशुयोनि को कैसे प्राप्त हो सकता है.

यह बात समझ में नहीं आती । क्रमविकास के नियमानुसार जब उसने एक बार मानव देह प्राप्त कर ली है, तो फिर से वह पशुयोनि को किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? "

उत्तर—" क्यों, पशुयोनि से जब मनुष्य हो सकता है, तो मनुष्य-योनि से पशु क्यों न होगा ? सत्ता तो वास्तव में एक ही है—मूल तो सब एक ही है । "

और एक बार (सन् १८९८ ई० में) इस प्रकार के प्रश्नोत्तर-काल में स्वामीजी ने मूर्तिपूजा की उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार मत प्रकट किया—पहले बौद्ध चैत्य, फिर बौद्ध स्तूप, उससे बुद्धदेव का मन्दिर निर्मित हुआ । हिन्दू मन्दिरों की उत्पत्ति इन बौद्ध मन्दिरों से हुई है।

प्रश्न—" क्या कुण्डलिनी नाम की कोई वास्तविक वस्तु इस स्थूल शरीर के भीतर है ? "

उत्तर—" श्रीरामकृष्ण देव कहते थे, 'योगी जिसे पद्म कहते हैं, वास्तव में वे मनुष्य के शरीर में नहीं हैं । योगाभ्यास से उनकी उत्पत्ति होती है । ' "

प्रश्न—" क्या मूर्तिपूजा के द्वारा मुक्तिलाभ हो सकता है ? "

उत्तर—" मूर्तिपूजा से साक्षात् मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर भी वह मुक्तिप्राप्ति में गौण कारण स्वरूप है—सहायक है । मूर्तिपूजा की निन्दा करना उचित नहीं है, क्योंकि बहुतों के लिए मूर्तिपूजा ही अद्वैत ज्ञान की उपलब्धि के लिए मन को तैयार करा देती है—इसी अद्वैत ज्ञान लाभ द्वारा मनुष्य मुक्त हो सकता है । "

प्रश्न—"हमारे चरित्र का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए ?"

उत्तर—"त्याग।"

प्रश्न—"आप कहते हैं कि बौद्ध धर्म अपने उत्तराधिकार के रूप में भारतीय समाज में घोर अवनति लाया था—यह कैसे हुआ ?"

उत्तर—"बौद्ध लोगों ने प्रत्येक भारतवासी को संन्यासी या संन्यासिनी बनाने की कोशिश की थी। परन्तु सब लोग तो संन्यासी नहीं हो सकते। इस तरह किसी भी व्यक्ति के साधु बन जाने से संन्यासी-संन्यासिनियों में क्रमशः त्याग का भाव घटता गया। और भी एक कारण था—धर्म के नाम पर तिब्बत तथा अन्यान्य देशों के बर्बर आचारों का अनुकरण करना। उन सब स्थानों में धर्मप्रचार के हेतु जाने पर प्रचारकों के भीतर उनके दोषयुक्त आचारों ने प्रवेश किया। अन्त में उन्होंने भारत में इन सब आचारों को प्रचलित कर दिया।"

प्रश्न—"माया क्या अनादि और अनन्त है ?"

उत्तर—"समष्टि रूप से अनादि अनन्त है ज़रूर, परन्तु व्यष्टि रूप से सान्त है।"

प्रश्न—"माया का क्या स्वरूप है ?"

उत्तर—"वास्तविक दृष्टि से वस्तु एक ही है—उसको चैतन्य या जड़ कुछ भी कहो। परन्तु उनमें से एक को छोड़ दूसरे

की चिन्ता करना सिर्फ कठिन ही नहीं, असम्भव है । इसी का नाम माया या अज्ञान है । ”

प्रश्न—“ मुक्ति क्या है ? ”

उत्तर—“ मुक्ति का अर्थ है पूर्ण स्वाधीनता—भले बुरे दोनों बन्धनों से मुक्त हो जाना । लोहे की शृंखला भी शृंखला ही है, और सोने की शृंखला भी शृंखला है। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे—‘ पैर में काँटा चुभने पर उसे निकालने के लिए एक दूसरे काँटे की आवश्यकता होती है । काँटा निकल जाने पर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं । इसी तरह सत् प्रवृत्ति के द्वारा असत् प्रवृत्तियों का दमन करना पड़ता है, परन्तु बाद में सत्प्रवृत्तियों पर भी विजय प्राप्त करनी पड़ती है । ’ ”

प्रश्न—“ क्या भगवत्कृपा के बिना भी मुक्तिलाभ हो सकता है ? ”

उत्तर—“ मुक्ति के साथ ईश्वर का कोई सम्बन्ध नहीं है । मुक्ति तो हमारे भीतर पहले से ही विद्यमान है । ”

प्रश्न—“ हमारे भीतर जिसे ‘ मैं ’ या ‘ अहं ’ कहा जाता है, वह देहादि से ही उत्पन्न नहीं है, इसका क्या प्रमाण है ? ”

उत्तर—“ अनात्म वस्तुओं के समान ‘ मैं ’ या ‘ अहं ’ भी देह मन आदि से ही उत्पन्न होता है । प्रकृत ‘ मैं ’ के अस्तित्व का एकमात्र प्रमाण है प्रत्यक्ष उपलब्धि । ”

प्रश्न—“ प्रकृत ज्ञानी एवं प्रकृत भक्त किसे कह सकते हैं ? ”

उत्तर—"जिनके हृदय में अथाह प्रेम है और जो सब अवस्थाओं में अद्वैत तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, वे ही प्रकृत ज्ञानी हैं। और प्रकृत भक्त भी वे ही हैं जो जीवात्मा और परमात्मा के अभेद को साक्षात् अनुभव करके भीतर से प्रकृत ज्ञान सम्पन्न हुए हैं, जो सबसे प्रेम करते हैं और सबके लिए जिनका हृदय द्रवित हो रुदन कर सकता है। ज्ञान और भक्ति दोनों में से किसी एक का पक्षपात करके जो दूसरे की निन्दा करता है, वह न तो ज्ञानी है, न भक्त—वह तो एक ढोंगी व्यक्ति है।"

प्रश्न—"ईश्वरसेवा की क्या आवश्यकता है?"

उत्तर—"यदि तुम ईश्वर को मानते हो तो उनकी सेवा करने के अनेक कारण तुम पाओगे। समस्त शास्त्रों के मतानुसार भगवत्सेवा का अर्थ है उनका स्मरण। यदि तुम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते हो तो यही सेवा तुम्हारे जीवन में पग पग पर उनके स्मरण में बड़ी सहायक होगी।"

प्रश्न—"क्या मायावाद अद्वैतवाद से कुछ पृथक् है?"

उत्तर—"नहीं—वे दोनों एक ही हैं। मायावाद के बिना अद्वैतवाद की किसी भी प्रकार की व्याख्या सम्भव नहीं है।"

प्रश्न—"ईश्वर तो अनन्त हैं, वे फिर मनुष्य रूप धारण कर इतने छोटे किस प्रकार हो सकते हैं?"

उत्तर—"यह सत्य है कि ईश्वर अनन्त हैं। परन्तु जिस अर्थ में तुम अनन्त को सोचते हो, अनन्त का वह अर्थ नहीं है। अनन्त कहने से तुम एक बड़ी प्रकाण्ड जड सत्ता समझ बैठते हो।

इसी समझ के कारण तुम भ्रम में पड़ गए हो। जब तुम यह कहते हो कि भगवान मनुष्य रूप धारण नहीं कर सकते तो इसका अर्थ तुम ऐसा समझते हो कि एक प्रकाण्ड जड़ पदार्थ को इतना छोटा नहीं किया जा सकता। परन्तु ईश्वर इस अर्थ में अनन्त नहीं है। उनका अनन्तत्व चैतन्य का अनन्तत्व है। इसलिए मानव के आकार में अपने को अभिव्यक्त करने पर भी उनके स्वरूप में कुछ भी क्षति नहीं पहुँचती—वह ज्यों का त्यों बना रहता है।"

प्रश्न—"कोई कोई कहते हैं कि पहले सिद्ध बन जाओ, फिर तुम्हें कर्म करने का ठीक ठीक अधिकार होगा, परन्तु कोई कहते हैं कि शुरू से ही कर्म करना उचित है। इन दो विभिन्न मतों का सामञ्जस्य किस प्रकार हो सकता है?"

उत्तर—"तुम तो दो विभिन्न विषयों को एक साथ मिलाकर भ्रम में पड़ गये हो। कर्म का अर्थ है मानव जाति की सेवा अथवा धर्मप्रचार-कार्य। प्रकृत प्रचार में अवश्य ही सिद्ध पुरुष के अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं है; परन्तु सेवा में तो सभी का अधिकार है। केवल इतना ही नहीं, जब तक हम दूसरों से सेवा ले रहे हैं तब तक हम दूसरों की सेवा करने को भी बाध्य हैं।"

(२)

(ब्रुकलिन नैतिक सभा, ब्रुकलिन, अमेरिका)

प्रश्न—"आप कहते हैं कि सब कुछ मंगल के लिए ही है; परन्तु देखने में आता है कि जगत् में अमंगल और दुःख-कष्ट ही

सर्वत्र परिव्याप्त है। तो फिर आपके मत के साथ इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले व्यापार का सामञ्जस्य किस तरह होगा ?"

उत्तर—"आप यदि पहले अमंगल के अस्तित्व को प्रमाणित कर सकेंगे तो हम इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे। परन्तु वैदान्तिक धर्म तो अमंगल का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करता। सुख से रहित अनन्त दु:ख कहीं हो तो उसे अवश्य प्रकृत अमंगल कहा जा सकता है। परन्तु यदि सामयिक दु:ख-कष्ट हृदय की कोमलता और महत्ता की वृद्धि कर मनुष्य को अनन्त सुख की ओर अग्रसर कर दे तो फिर हम उसे अमंगल नहीं कह सकते, बल्कि हम उसे परम मंगल कहेंगे। जब तक किसी वस्तु का अनन्त के राज्य में क्या परिणाम होता है इसका हम अनुसन्धान नहीं करते—तब तक किसी वस्तु को बुरा कह ही नहीं सकते।"

"भूतों अथवा पिशाचों की उपासना हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। मानव जाति क्रमोन्नति के मार्ग पर चल रही है, परन्तु सब लोग एक ही प्रकार की स्थिति में नहीं पहुँच सके। इसीलिये पार्थिव जीवन में कोई कोई अन्यान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महान् तथा पवित्र देखा जाता है। प्रत्येक मनुष्य के लिये अपने वर्तमान उन्नति-क्षेत्र के भीतर स्वयं को उन्नत बनाने के लिए बहुत से सुअवसर विद्यमान हैं। हम स्वयं का नाश नहीं कर सकते, हम अपने भीतर की जीवनीशक्ति को नष्ट या दुर्बल नहीं कर सकते, परन्तु उस शक्ति को विभिन्न दिशा में परिचालित करने के लिये हम स्वतन्त्र हैं।"

प्रश्न—" पार्थिव जड़ वस्तु की सत्यता क्या हमारे मन की केवल कल्पना नहीं है ? "

उत्तर—" हमारे मत में बाह्य जगत् की अवश्य कुछ सत्ता है—अर्थात् हमारे मन की चिन्ता के बाहर भी उसका अस्तित्व है। चैतन्य के क्रमविकास रूपी महान् विधान का अनुवर्ती होकर यह समग्र विश्वप्रपंच उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है । चैतन्य का यह क्रमविकास जड़ के क्रमविकास से पृथक् है। जड़ का क्रमविकास चैतन्य की विकासप्रणाली का सूचक या प्रतीक स्वरूप है, किन्तु उसके द्वारा इस प्रणाली की व्याख्या नहीं हो सकती। वर्तमान पार्थिव परिस्थिति में बद्ध रहने के कारण हम अभी तक अखण्ड व्यक्तित्व को प्राप्त नहीं कर सके हैं । जब तक हम उस उच्चतर भूमि में नहीं पहुँच जाते जहाँ हम अपनी अन्तरात्मा के श्रेष्ठ लक्षणों को प्रकट करने योग्य यन्त्र बन जाते हैं, तब तक हम प्रकृत व्यक्तित्व लाभ नहीं कर सकते । "

प्रश्न—" ईसा मसीह के पास एक जन्मान्ध शिशु को ले जाकर उनसे पूछा गया था कि शिशु अपने स्वकृत पाप के फल से अन्ध हुआ है अथवा अपने माता-पिता के पाप के फल से। इस समस्या की मीमांसा आप किस प्रकार करेंगे ! "

उत्तर—" इस समस्या में पाप की बात को ले आने का कोई भी प्रयोजन नहीं दीख पड़ता । हमारा दृढ़ विश्वास है कि शिशु की यह अन्धता उसके पूर्वजन्म-कृत किसी कर्म का ही फल होगी । हमारे मत में पूर्वजन्म को स्वीकार करने पर ही ऐसी समस्याओं की मीमांसा हो सकती है। "

प्रश्न—" मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा क्या आनन्द की अवस्था को प्राप्त करती है ? "

उत्तर—" मृत्यु तो केवल अवस्था का परिवर्तन मात्र है। देश-काल आपके ही भीतर वर्तमान हैं, आप देश-काल के अन्तर्गत नहीं हैं। इतना ही जानने से यथेष्ट होगा कि हम इहलोक में या परलोक में अपने जीवन को जितना ही अधिक पवित्र और महान् बनाएँगे, उतना ही हम भगवान के निकट हो जायँगे। वे भगवान ही सारे आध्यात्मिक सौन्दर्य तथा अनन्त आनन्द के केन्द्रस्वरूप हैं।"

(३)

(ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी क्लब, बोस्टन, अमेरिका)

प्रश्न—" क्या वेदान्त का प्रभाव इस्लाम धर्म पर भी कुछ पड़ा था ? "

उत्तर—" वेदान्त मत की आध्यात्मिक उदारता ने इस्लाम धर्म पर अपना विशेष प्रभाव विस्तारित किया था। भारत का इस्लाम धर्म संसार के अन्यान्य देशों के इस्लाम धर्म की अपेक्षा पूर्ण रूप से भिन्न है। जब दूसरे देशों के मुसलमान यहाँ आकर भारतीय मुसलमानों को फुसलाते हैं कि तुम विधर्मियों के साथ मिलजुल कर कैसे रहते हो, तभी अशिक्षित कट्टर मुसलमान उत्तेजित होकर दंगा-फसाद मचाते हैं। "

प्रश्न—" क्या वेदान्त जातिभेद मानता है ? "

उत्तर—" जातिभेद वेदान्त मत का विरोधी है। जाति-

भेद एक सामाजिक प्रथा-मात्र है और उसे तोड़ने के लिए हमारे बड़े बड़े आचार्यों ने कोशिश की है। बौद्ध धर्म से लेकर सभी सम्प्रदायों ने जातिभेद के विरुद्ध प्रचार किया है, परन्तु ऐसा प्रचार जितना ही बढ़ता गया जातिभेद की शृंखला उतनी ही अधिक दृढ़ होती गई। जातिभेद की उत्पत्ति राजनीतिक व्यवस्था से हुई है। वह तो वंशपरम्परागत व्यवसायी सम्प्रदायों का समवाय (Trade guild) मात्र है। किसी अन्य उपदेश की अपेक्षा यूरोप के साथ व्यापार-वाणिज्य की प्रतियोगिता ने जातिभेद को अधिक मात्रा में तोड़ दिया है।"

प्रश्न—"वेदों की विशेषता किस बात में है ?"

उत्तर—"वेदों की एक विशेषता यह है कि समस्त शास्त्रों में एकमात्र वेद ही बारम्बार कहते हैं कि वेदों के भी अतीत हो जाना चाहिए। वेद कहते हैं कि वे केवल असिद्ध व्यक्तियों के लिये लिखे गये हैं। सिद्धावस्था में तो वेदों की भी सीमा के परे जाना पड़ता है।"

प्रश्न—"आपके मत में प्रत्येक जीवात्मा क्या नित्य सत्य है ?"

उत्तर—"जीवसत्ता अनेक संस्कारों या बुद्धिवृत्तियों की समष्टिस्वरूप है और इन बुद्धिवृत्तियों का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इसलिए यह जीवात्मा अनन्त काल के लिये कभी सत्य नहीं हो सकती। इस मायिक जगत्-प्रपञ्च के भीतर ही उसकी सत्यता है। जीवात्मा तो चिन्ता और स्मृति की समष्टि है—वह नित्य सत्य कैसे हो सकती है ?"

प्रश्न—"भारत में बौद्ध धर्म का लोप होने का क्या कारण है ?"

उत्तर—"वास्तव में बौद्ध धर्म का भारत में लोप नहीं हुआ है। बौद्ध धर्म एक प्रबल सामाजिक आन्दोलन मात्र था। बुद्धदेव के पहले, यज्ञ के नाम से तथा अन्य विभिन्न कारणों से बहुत प्राणि-हिंसा होती थी और लोग बहुत मद्यपान तथा आमिष-आहार करते थे। बुद्ध देव के उपदेश के कारण मद्यपान और जीवहत्या का भारत से प्रायः लोप हो गया है।"

(४)

(अमेरिका के हार्डफोर्ड में 'आत्मा, ईश्वर तथा धर्म' विषय पर स्वामीजी का एक भाषण समाप्त होने पर वहाँ के श्रोताओं ने अनेक प्रश्न पूछे थे। वे प्रश्न तथा उनके उत्तर नीचे दिये गये हैं।)

श्रोताओं में से एक व्यक्ति ने कहा—"यदि ईसाई धर्म-प्रचारक लोगों को नरकाग्नि का डर न दिखायें तो उनके उपदेशों को कोई नहीं मानेगा।"

उत्तर—"यदि वैसा है तो न मानना ही अच्छा है। भय दिखाकर जिससे धर्म-कर्म कराना होता है, उसके द्वारा असल में कोई धर्माचरण होता ही नहीं। लोगों को उनकी आसुरी प्रकृति के विषय में कुछ न सुनाकर उनमें जो देवभाव अन्तर्निहित है उसी के बारे में उपदेश देना अच्छा है।"

प्रश्न—“ प्रभु (ईसा मसीह) ने जो बताया कि ‘ स्वर्गराज्य इस संसार का नहीं है ’—इसका क्या अर्थ है ? ”

उत्तर—“ उनके कहने का मतलब यह था कि स्वर्गराज्य हमारे भीतर ही विद्यमान है। यहूदी लोगों की ऐसी धारणा थी कि इसी पृथ्वी में कहीं स्वर्गराज्य नामक कोई राज्य स्थापित होगा। पर ईसा मसीह की धारणा इस प्रकार की नहीं थी। ”

प्रश्न—“ क्या आप यह विश्वास करते हैं कि हम सब पहले पशु थे और अब मनुष्य बन गये हैं ? ”

उत्तर—“ हमारा विश्वास है कि क्रमविकास के नियमानुसार उच्चतर प्राणी निम्नतर जीवों से ही आये हुए हैं। ”

प्रश्न—“ आप ऐसे किसी व्यक्ति को जानते हैं जिसे अपने पिछले जन्म का स्मरण है ? ”

उत्तर—“ ऐसे अनेक व्यक्तियों के साथ हमारी भेंट हुई है, जिन्होंने हमें बतलाया है कि उन्हें अपने पिछले जन्म का स्मरण है। वे ऐसी एक अवस्था में पहुँचे हुए हैं जिसमें उनके पूर्व जन्म की स्मृति का उदय हुआ है। ”

प्रश्न—“ ईसा के क्रॉस पर विद्ध होने की बात पर क्या आप विश्वास करते हैं ? ”

उत्तर—“ ईसा तो ईश्वरावतार थे—लोग उनकी हत्या नहीं कर सकते थे। उन्होंने जिसे क्रॉस पर विद्ध किया था वह तो उनकी छायामात्र थी, मृगतृष्णा जैसी एक भ्रान्तिमात्र थी। ”

प्रश्न—यदि उनमें इस प्रकार के एक छायाशरीर का निर्माण करने की शक्ति थी, तो क्या यही सबसे श्रेष्ठ अलौकिक व्यापार नहीं है ?"

उत्तर—" अलौकिक चमत्कारों को तो हम हमेशा सत्य वस्तु की प्राप्ति में सबसे बड़ा विघ्न मानते हैं। बुद्धदेव के शिष्यों ने एक समय उनसे इस प्रकार के चमत्कार दिखानेवाले किसी व्यक्ति की बात कही थी। यह व्यक्ति स्पर्श किये बिना ही एक पात्र खूब ऊँचे स्थान से ले आया था। परन्तु वह पात्र जब बुद्धदेव को दिखाया गया तो देखते ही उन्होंने उसे पदाघात से चूर चूर कर डाला। साथ ही उन्होंने शिष्यों को इस प्रकार की अलौकिक क्रिया पर धर्म की नींव डालने का निषेध भी कर दिया था। और कहा, 'सनातन तत्त्वों में ही सत्य की खोज करनी चाहिये।' उन्होंने अपने शिष्यों को आभ्यन्तरीण यथार्थ ज्ञानालोक की शिक्षा—आत्मतत्त्व, आत्मज्योति की शिक्षा दी थी—उसी आत्मज्योति के आलोक में अग्रसर होना एकमात्र निर्विघ्न मार्ग है। चमत्कार आदि तो धर्ममार्ग में विघ्नस्वरूप हैं। उन्हें तो अपने सामने से दूर ही हटाना चाहिये।"

प्रश्न—" क्या आप विश्वास करते हैं कि ईसा ने शैलोपदेश (Sermon on the Mount) दिया था ?"

उत्तर—" हाँ, हम विश्वास करते हैं कि ईसा ने शैलोपदेश दिया था; परन्तु इस विषय में दूसरों के समान हम भी ग्रन्थों के

प्रामाण्य पर ही निर्भर हैं। और हम यह भी जानते हैं कि केवल ग्रन्थों के प्रमाण में पूर्ण आस्था नहीं रखनी चाहिए। तो भी यह सत्य है कि उस शैलोपदेश को अपने जीवन के मार्गप्रदर्शक के रूप में स्वीकार करने से हमारे लिये किसी प्रकार की आपत्ति की सम्भावना नहीं रहेगी। जो कुछ आध्यात्मिक दृष्टि से कल्याणप्रद है और जो हृदयस्पर्शी है उसी को हमें ग्रहण करना चाहिये। बुद्धदेव ने ईसा से पाँच सौ वर्ष पहले उपदेश दिया था। उनके सारे वचन प्रेम और शुभकामना से भरे हुए हैं। उनके श्रीमुख से कभी भी किसी के प्रति अभिशाप का उच्चारण नहीं हुआ। उनके जीवन भर में किसी के विषय में अशुभ चिन्ता का प्रसंग नहीं सुना जाता है। जरतुष्ट्र या कन्फ्यूशस के श्रीमुख से भी कभी अभिशाप के शब्द नहीं निकले।"

(५)

(निम्नलिखित प्रश्नोत्तर अमेरिका में दिये हुए विभिन्न भाषणों के अन्त में हुए थे। वहीं से इनका संग्रह किया गया है। इनमें से एक अमेरिका के किसी संवादपत्र से संगृहीत है।)

प्रश्न—"आत्मा के पुनर्देहधारण के विषय में हिन्दूमत किस प्रकार का है?"

उत्तर—"वैज्ञानिकों का शक्ति या जड़-सातत्य अथवा नैरन्तर्य (Conservation of energy or matter) का मतवाद जिस भित्ति पर प्रतिष्ठित है, पुनर्देहधारण का सिद्धान्त भी उसी

भित्ति पर स्थापित है। इस मतवाद (Conservation of energy or matter) का प्रवर्तन हमारे देश के एक दार्शनिक ने ही सर्वप्रथम किया था। वे लोग सृष्टि को नहीं मानते। 'सृष्टि' कहने से वे समझते हैं—'कुछ नहीं' से 'कुछ' का होना, 'अभाव' से 'भाव' की उत्पत्ति। परन्तु यह तो असम्भव है। जिस प्रकार काल का आदि नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि का भी आदि नहीं है। ईश्वर और सृष्टि मानो दो रेखाओं के समान हैं—उनका न आदि है, न अन्त—वे नित्य पृथक् हैं। सृष्टि के बारे में हमारा यह मत है कि वह थी, है, और रहेगी। पाश्चात्य देशवासियों को भारत से एक बात अवश्य सीखनी है—वह है परधर्मसहिष्णुता। कोई भी धर्म बुरा नहीं है; क्योंकि सब धर्मों का सार एक ही प्रकार का है।"

प्रश्न—"भारत की स्त्रियाँ उतनी उन्नत क्यों नहीं हैं?"

उत्तर—"विभिन्न समयों में अनेक असभ्य जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, प्रधानतः उसी के कारण भारत महिलाएँ इतनी अनुन्नत हैं; और कुछ दोष तो भारतवासियों के निजी भी हैं।"

किसी समय अमेरिका में स्वामीजी से कहा गया था कि हिन्दू-धर्म ने कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी को अपने धर्म में नहीं मिलाया है। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, "जैसे प्राच्य भूखण्ड में घोषणा करने के लिए बुद्धदेव के पास एक विशेष संदेश था उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में घोषणा करने के लिए हमारे पास भी एक विशेष संदेश है।"

प्रश्न—"आप क्या यहाँ (अमेरिका में) हिन्दूधर्म के क्रियाकलाप, अनुष्ठान आदि को भी चलाना चाहते हैं?"

उत्तर—"हम तो केवल दार्शनिक तत्त्वों का ही प्रचार कर रहे हैं?"

प्रश्न—"क्या आपको ऐसा नहीं मालूम होता कि यदि भविष्यत् नरक का डर लोगों के सामने से हटा दिया जाय तो किसी भी रूप से उन्हें काबू में रखना असम्भव हो जायगा?"

उत्तर—"नहीं; बल्कि हम यह समझते हैं कि भय की अपेक्षा हृदय में प्रेम और आशा का संचार होने से वे अधिक अच्छे हो जायँगे।"

---

१२. हार्वर्ड विश्वविद्यालय में स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने २५ मार्च सन् १८९६ ई० को युक्तराष्ट्र अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय की ग्रैजुएट दार्शनिक सभा में वेदान्त-दर्शन के बारे में एक व्याख्यान दिया था । व्याख्यान समाप्त होने पर श्रोताओं के साथ निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुए ।)

प्रश्न—" हम यह जानना चाहते हैं कि वर्तमान समय में भारत में दार्शनिक चिन्ता किस प्रकार होती है, दार्शनिक विचारों की वहाँ आजकल कहाँ तक आलोचना होती है ? "

उत्तर—" हमने तो पहले ही कह दिया है कि भारत में अधिकांश लोग द्वैतवादी हैं । अद्वैतवादियों की संख्या बहुत अल्प है । उस देश में (भारत में) आलोचना का प्रधान विषय है मायावाद और जीवतत्त्व । हमने इस देश में आकर देखा कि यहाँ के श्रमजीवी संसार की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति से भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु जब हमने उनसे पूछा कि धर्म का क्या अर्थ है, अमुक अमुक सम्प्रदाय का क्या मत है तो उन्होंने कहा, 'ये सब बातें हम नहीं जानते—हम तो सिर्फ चर्च में जाते हैं।' परन्तु भारत में किसी किसान के पास जाकर यदि हम पूछें कि तुम्हारा शासनकर्ता कौन है, तो वह उत्तर देगा, 'यह बात हम नहीं जानते, हम तो केवल टैक्स (कर) दे देते हैं ।'

परन्तु यदि मैं उससे धर्म के विषय में पूछूँ तो वह तत्काल बता देगा कि वह द्वैतवादी है; और माया तथा जीवतत्त्व के सम्बन्ध में वह अपनी धारणा को विस्तृत रूप से कहने के लिए भी तैयार हो जाएगा। वे लिखना पढ़ना नहीं जानते; परन्तु इन बातों को उन्होंने साधु-संन्यासियों से ही सीखा है; और इन विषयों पर विचार करना उन्हें बहुत ही अच्छा लगता है। दिन भर काम करने के पश्चात् पेड़ के नीचे बैठकर किसान लोग इन सब तत्त्वों पर विचार किया करते हैं।"

प्रश्न—"कट्टर या असल हिन्दू किसे कह सकते हैं? हिन्दू धर्म में कट्टरता (Orthodoxy) का क्या अर्थ है?"

उत्तर—"वर्तमान काल में तो खान-पान अथवा विवाह के विषय में जातिगत विधि-निषेध का पालन करने से ही कट्टर या असल हिन्दू हो जाता है। बस, यह कहने पर वह चाहे किसी भी धर्म-मत में विश्वास क्यों न करे उससे कोई हानि नहीं। भारत में कभी भी कोई नियमित धर्ममण्डली या चर्च नहीं था; इसलिए कट्टर या असल हिन्दूपन गठित तथा नियमित करने के लिए संघबद्ध रूप से कभी चेष्टा नहीं हुई। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जो वेदों में विश्वास रखते हैं वे ही असल या कट्टर हिन्दू हैं। परन्तु वास्तव में देखने में यह आता है कि द्वैतवादी सम्प्रदायों में से अनेक सम्प्रदाय केवल वेदविश्वासी न होकर पुराणों में ही अधिक विश्वास रखते हैं।"

प्रश्न—" आपके हिन्दू दर्शन ने ग्रीकों के स्टॉइक दर्शन * के ऊपर किस प्रकार प्रभाव विस्तारित किया था ? "

उत्तर —" बहुत सम्भव है कि अलेकज़ैन्ड्रिया-निवासियों द्वारा उस पर हिन्दू दर्शन का कुछ प्रभाव पड़ा हो। पिथागोरस के उपदेशों में सांख्य दर्शन का कुछ प्रभाव विद्यमान है, और इस विषय में सन्देह करने के लिए कारण अवश्य हैं। जो कुछ भी हो, हमारी यह धारणा है कि सांख्यदर्शन ही वेदों में निहित दार्शनिक तत्वों का युक्ति-विचार द्वारा समन्वय करने का सबसे प्रथम प्रयत्न है। हम वेदों तक में भी कपिल के नाम का उल्लेख पाते हैं—

" ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ॥"

—श्वेताश्वतर उपनिषद्

" जिन्होंने उन कपिल ऋषि का पहले प्रसव किया था। "

प्रश्न—" पाश्चात्य विज्ञान के साथ इस मत का विरोध कहाँ पर है ? "

उत्तर—" विरोध कुछ भी नहीं है। बल्कि हमारे इस मत के साथ पाश्चात्य विज्ञान का सादृश्य ही है। हमारा परिणामवाद एवं आकाश तथा प्राणतत्व ठीक आपके आधुनिक दर्शन के सिद्धान्त के समान है। आपका परिणामवाद या क्रमविकास हमारे योग

---

* ईसा से पूर्व सम्भव है कि सन् ३०८ में ग्रीस के दार्शनिक ज़िनो (Zeno) ने इस दर्शन का प्रचार किया था। इनके मत में सुख-दुःख, भला-बुरा, सब विषयों में समभावसम्पन्न रहना और अविचालित रहकर सबको सहना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है।

और सांख्य दर्शन में पाया जाता है। दृष्टान्तरूप से देखिए—पतञ्जलि ने दर्शाया है कि प्रकृति के कार्य के द्वारा एक जाति अन्य जाति में परिणत होती है । 'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरणात् ।' परन्तु इसकी व्याख्या के विषय में पतञ्जलि के साथ पाश्चात्य विज्ञान का मतभेद है । पतञ्जलि के परिणाम की व्याख्या आध्यात्मिक है । वे कहते हैं—यदि एक किसान अपने खेत में पानी देने के लिये पास के ही जलाशय से पानी लेना चाहता है तो वह क्या करता है ? उसे तो सिर्फ पानी को बंद करने वाले द्वार को खोल देना होता है—'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।' उसी प्रकार समग्र मानव जाति पहले से ही अनन्तशक्ति सम्पन्न है, केवल इन सब विभिन्न प्रतिबन्धों ने उसे बद्ध कर रखा है। इन प्रतिबन्धों को हटाने मात्र से ही उसकी वह अनन्तशक्ति बड़े वेग के साथ प्रकट हो जाती है । तिर्यक् योनि में भी मनुष्यत्व गूढ़ भाव से अव्यक्त अवस्था में छिपा हुआ है; अनुकूल परिस्थिति उपस्थित होने पर वह तत्क्षण ही मानव-रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। उसी प्रकार उपयुक्त सुयोग तथा अवसर उपस्थित होने पर मनुष्य के भीतर जो ईश्वरत्व विद्यमान है वह भी उसी क्षण प्रकट हो जाता है । इसलिए आधुनिक नूतन मतवादवालों के साथ विवाद करने के लिये विशेष कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, विषयानुभूति की प्रणाली के सम्बन्ध में सांख्य मत के साथ आधुनिक शारीरविधान-शास्त्र (Physiology) का मतभेद बहुत ही थोड़ा है । "

प्रश्न —"परन्तु आप लोगों की ज्ञानलाभ-प्रणाली भिन्न है ।"

उत्तर—"हाँ, हमारे मत में मन की समस्त शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञानलाभ का एकमात्र उपाय है। बहिर्विज्ञान में बाह्य विषयों के ऊपर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान में मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।"

प्रश्न—"एकाग्रता की दशा में क्या इन सब तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आप ही आप प्रकट होता है?"

उत्तर—"योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता-शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका यह कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य—बाह्य और आन्तर दोनों जगत् के सत्य—करामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाते हैं।"

प्रश्न—"अद्वैतवादी सृष्टितत्व के विषय में क्या कहते हैं?"

उत्तर—"अद्वैतवादी कहते हैं कि ये सारे सृष्टितत्व तथा इस संसार में जो कुछ भी है, यह सब माया के, इस आपात-प्रतीयमान प्रपञ्च के अन्तर्गत हैं। वास्तव में उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु जब तक हम बद्ध हैं तब तक हमें यह दृश्य-जात देखना पड़ेगा। इस दृश्यजात के बीच घटनाएँ कुछ निर्दिष्ट क्रम के अनुसार घटती रहती हैं। परन्तु इन दृश्यों से परे न कोई नियम है, न क्रम। वहाँ सम्पूर्ण मुक्ति—सम्पूर्ण स्वाधीनता है।"

प्रश्न—"अद्वैतवाद क्या द्वैतवाद का विरोधी है?"

उत्तर—"उपनिषद् ग्रंथ प्रणालीबद्ध भाव से लिखित

न होने के कारण जब दार्शनिक पण्डित किसी प्रणालीबद्ध दर्शन-शास्त्र की रचना करना चाहते हैं तो वे इन उपनिषदों में से अपने अभिप्राय के अनुकूल प्रणालीभूत वाक्यों को ही चुन लेते हैं। और इसी कारण सब दर्शनकारों ने उपनिषदों को ही प्रमाण-रूप से ग्रहण किया है—नहीं तो उनके दर्शनशास्त्रों को किसी प्रकार का आधार ही नहीं रह जाता। परन्तु हम देखते हैं कि उपनिषदों में सब प्रकार की विभिन्न चिन्तनप्रणाली विद्यमान है। हमारा यह सिद्धान्त है कि अद्वैतवाद द्वैतवाद का विरोधी नहीं है। हम तो कहते हैं कि चरम ज्ञान में पहुँचने के लिए जो तीन सोपान हैं, उनमें द्वैतवाद एक सोपानमात्र है। धर्म में सर्वदा तीन सोपान देखने में आते हैं। प्रथम—द्वैतवाद। उसके बाद मनुष्य अपेक्षाकृत उच्चतर अवस्था में उपस्थित होता है—वह है विशिष्टाद्वैतवाद। और अन्त में उसे यह अनुभव होता है कि समस्त विश्वब्रह्माण्ड के साथ वह अभिन्न है। यही चरमदशा अद्वैतवाद है। इसलिए इन तीनों में परस्पर विरोध नहीं है, बल्कि ये परस्पर एक दूसरे के सहायक ही हैं।"

प्रश्न—"माया या अज्ञान के अस्तित्व का क्या कारण है?"

उत्तर—"कार्यकारण-संघात की सीमा के बाहर 'क्यों' का प्रश्न ही पूछा नहीं जा सकता। माया-राज्य के भीतर ही 'क्यों' का प्रश्न पूछा जा सकता है। हम कहते हैं कि यदि न्याय-शास्त्र की युक्ति के अनुसार ही यह प्रश्न पूछ सका जाय तभी हम उसका उत्तर देंगे। उससे पहले उसका उत्तर प्राप्त करने का हमें अधिकार नहीं है।"

प्रश्न—"सगुण ईश्वर क्या माया के अन्तर्गत है?"

उत्तर—"हाँ, परन्तु यह सगुण ईश्वर मायारूपी आवरण के भीतर से परिदृश्यमान उस निर्गुण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। माया या प्रकृति के आधीन होने पर वही निर्गुण ब्रह्म जीवात्मा कहलाता है; और मायाधीश या प्रकृति के नियन्ता के रूप में वही निर्गुण ब्रह्म ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहलाता है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य को देखने के लिए यहाँ से ऊपर की ओर यात्रा करे, तो जब तक वह असल सूर्य के निकट नहीं पहुँचता तब तक सूर्य को वह क्रमशः अधिकाधिक बड़ा ही देखता जायगा। वह जितना ही आगे बढ़ेगा, उसे ऐसा मालूम होगा कि वह भिन्न भिन्न सूर्य को देख रहा है; परन्तु असल में तो वह उसी एक सूर्य को देख रहा है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इसी प्रकार हम जो कुछ भी देख रहे हैं वह सब उसी निर्गुण ब्रह्मसत्ता के विभिन्न रूप मात्र हैं,—इसलिए उस दृष्टि से वे सब सत्य हैं। उनमें से कोई भी मिथ्या नहीं है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि ये निम्नतर सोपान मात्र हैं।"

प्रश्न—"उस पूर्ण निरपेक्ष सत्ता को जानने की विशेष प्रणाली कौनसी है?"

उत्तर—"हमारे मत में दो प्रणालियाँ हैं। उनमें से एक अस्तिभाव-द्योतक या प्रवृत्ति मार्ग है, दूसरी—नास्तिभाव-द्योतक या निवृत्ति मार्ग है। प्रथमोक्त मार्ग से सर्वसाधारण लोग चलते हैं—इसी पथ से हम प्रेम के द्वारा उस पूर्ण वस्तु को प्राप्त करने की

चेष्टा कर रहे हैं। हम यदि अपने प्रेम की परिधि को अनन्त गुना बढ़ाएँगे तो हम उसी सार्वजनीन प्रेम में पहुँच जायँगे। दूसरे पथ में 'नेति' 'नेति' अर्थात् 'यह नहीं' 'यह नहीं' इस प्रकार की साधना करनी पड़ती है। इस साधना में चित्त की जो कोई तरंग मन को बहिर्मुखी बनाने की चेष्टा करती है उसका निवारण करना पड़ता है। अन्त में मन ही मानो मर जाता है, तब सत्य स्वयं प्रकाशित हो जाता है। हम इसी को समाधि या ज्ञानातीत अवस्था या पूर्ण ज्ञानावस्था कहते हैं।"

प्रश्न—"तब तो यह विषयी (ज्ञाता या द्रष्टा) को विषय (ज्ञेय या दृश्य) में डुबा देने की अवस्था हुई?"

उत्तर—"विषयी को विषय में नहीं, वरन् विषय को विषयी में विलीन किया जाता है। वास्तव में यह जगत् विलीन हो जाता है, केवल 'अहं' रह जाता है—एकमात्र केवल 'अहं' ही वर्तमान रहता है।"

प्रश्न—"हमारे कुछ जर्मन दार्शनिकों का मत है कि भारतीय भक्तिवाद सम्भवतः पाश्चात्य प्रभाव का ही फल है।"

उत्तर—"इस विषय में हम उनसे सहमत नहीं हैं। इस प्रकार का अनुमान तो एक क्षण के लिए भी नहीं टिक सकता। भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशों की भक्ति के समान नहीं है। भक्ति के सम्बन्ध में हमारी मुख्य धारणा तो यह है कि उसमें भय का भाव बिलकुल ही नहीं रहता—रहता है हमारे मन में केवल भगवान्

के प्रति प्रेम। दूसरी बात यह है कि ऐसा अनुमान पूर्ण रूप से अनावश्यक है। भक्ति की बातें हमारे प्राचीनतम उपनिषदों में भी विद्यमान हैं और ये उपनिषद ईसाइयों के बाइबिल ग्रन्थ से बहुत प्राचीन हैं। संहिता में भी भक्ति का बीज देखने में आता है। भक्ति शब्द भी तो कोई पाश्चात्य शब्द नहीं है। वेदमन्त्र में श्रद्धा शब्द का जो उल्लेख है, उसीसे क्रमशः भक्तिवाद का उद्भव हुआ है।"

प्रश्न—"ईसाई धर्म के सम्बन्ध में भारतवासीयों की क्या धारणा है ?"

उत्तर—"बड़ी अच्छी धारणा है। सभी लोग वेदान्त को ग्रहण करते हैं। दूसरे देशों की तुलना में भारत में हमारी धर्मशिक्षा का एक विशेषत्व है। मान लीजिए हमारा एक लड़का है। हम उसे किसी धर्ममत की शिक्षा नहीं देंगे, हम उसे केवल प्राणायाम सिखायेंगे, मन को एकाग्र करना सिखायेंगे और एक-आध साधारण प्रार्थना की शिक्षा देंगे; परन्तु प्रार्थना का अर्थ आप जैसा समझते हैं, उस प्रकार की प्रार्थना नहीं, बल्कि केवल इस प्रकार की कुछ प्रार्थना सिखाएँगे—"जिन्होंने इस विश्वब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, हम उनका ध्यान करते हैं—वे हमारे मन को ज्ञानालोक से आलोकित करें। *

"इस प्रकार उसकी धर्मशिक्षा चलती रहेगी। इसके बाद वह विभिन्न मतावलम्बी दार्शनिकों एवं आचार्यों के मत सुनता रहेगा।

* ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

उनमें से जिनका मत वह अपने लिए सब की अपेक्षा अधिक उप-युक्त समझेगा उन्हीं को वह गुरु-रूप से ग्रहण करेगा और वह स्वयं उनका शिष्य बन जायगा। वह उनसे प्रार्थना करेगा, 'आप जिस दर्शन का प्रचार कर रहे हैं, वही सर्वोत्कृष्ट है; अतएव आप कृपा करके मुझे उसकी शिक्षा दीजिए।'

"मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि आपका मत हमारे लिए तथा हमारा मत आपके लिए उपयोगी नहीं हो सकता। प्रत्येक का साधना-पथ भिन्न भिन्न होता है। यह भी हो सकता है कि हमारी लड़की का साधन-मार्ग एक प्रकार का हो, हमारे लड़के का दूसरे प्रकार का और हमारा इन दोनों से बिल्कुल भिन्न प्रकार का। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का इष्ट या निर्वाचित पथ भिन्न भिन्न हो सकता है। और सब लोग अपने अपने साधना-मार्ग की बातें गुप्त ही रखते हैं। अपने साधना-पथ के विषय में केवल हम जानते हैं और हमारे गुरु; और किसी दूसरे को यह विषय हम नहीं बताते; इसका कारण यह है कि हम वृथा ही लोगों से विवाद करना नहीं चाहते। और यह विषय दूसरों के पास प्रकट करने से उनका भी कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक को ही अपना अपना मार्ग चुन लेना पड़ता है। इसीलिए सर्वसाधारण को केवल सर्वसाधारण-सम्मत दर्शन तथा साधनाप्रणाली का ही उपदेश दिया जा सकता है। इस विषय में मैं एक दृष्टान्त देता हूँ—अवश्य उसे सुनकर आप हँसेंगे। मान लीजिए एक पैर पर खड़े रहने से शायद उससे हमारी उन्नति में कुछ सहायता होती हो; परन्तु हमारे लिए

उसकी उपयोगिता होने पर भी, यदि हम एक पैर पर खड़े होने के लिए सबको उपदेश देना शुरू कर दें तो क्या यह हँसी की बात नहीं हो जायगी ? ऐसा होना भी बहुत सम्भव है कि हम हों द्वैतवादी और हमारी स्त्री हो अद्वैतवादी। हमारे किसी लड़के की यदि इच्छा हो, तो वह ईसा, बुद्ध या मुहम्मद का उपासक बन सकता है, क्योंकि वे उसके इष्ट हैं। हाँ, अवश्य उसे अपने जातिगत सामाजिक नियमों का पालन करना पड़ेगा।"

प्रश्न—"क्या सब हिन्दुओं का जाति-विभाग में विश्वास है ?"

उत्तर—"बाध्य होकर भी जातिगत नियम मानने पड़ते हैं। आपाततः विश्वास न रहने पर भी हम सामाजिक नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते।"

प्रश्न—"इस प्राणायाम और एकाग्रता का अभ्यास क्या सब लोग करते हैं ?"

उत्तर—"हाँ, सब लोग करते हैं; परन्तु कोई कोई बहुत थोड़ा करते हैं—जितना करने से धर्मशास्त्र के आदेश का उल्लंघन नहीं होता बस उतना ही करते हैं। भारत के मन्दिर यहाँ के गिरजाघरों के समान नहीं हैं। चाहे कल ही सब मन्दिर अन्तर्हित हो जायँ, तो भी लोगों को उनका अभाव मालूम नहीं पड़ेगा। स्वर्ग की इच्छा से, पुत्र की इच्छा से, अथवा इसी प्रकार की और किसी कामना से लोग मन्दिर बनवाते हैं। किसी ने एक बड़े भारी मन्दिर की प्रतिष्ठा कर उसमें पूजा के लिए दो-चार पुरोहितों को भी

नियुक्त कर दिया; परन्तु हमें वहाँ जाने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि हमारा जो कुछ पूजा-पाठ है वह हमारे घर में ही होता है। प्रत्येक घर में एक अलग कमरा होता है जिसे 'ठाकुर-घर' या 'पूजा-गृह' कहा जाता है। दीक्षाग्रहण के बाद प्रत्येक बालक या बालिका का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह पहले स्नान करे, फिर पूजा-सन्ध्या-वन्दनादि। और उसकी वह पूजा या उपासना भी प्राणायाम, ध्यान तथा किसी मन्त्रविशेष का जप ही होती है। और एक बात की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है—वह है साधना के समय शरीर को हमेशा सीधा रखना। हमारा विश्वास है कि मन के बल से शरीर को भी स्वस्थ, सबल रखा जा सकता है। एक व्यक्ति इस प्रकार पूजा आदि करके चला जाता है, फिर दूसरा आकर वहाँ बैठकर अपनी पूजा, पाठ आदि करने लगता है। सभी निस्तब्ध भाव से अपनी अपनी पूजा करके चले जाते हैं। कभी कभी एक ही कमरे में तीन-चार व्यक्ति बैठकर उपासना करते हैं, परन्तु उनमें से हरएक की उपासना प्रणाली भिन्न भिन्न हो सकती है। इस प्रकार की पूजा प्रति दिन कम से कम दो बार करनी पड़ती है।"

प्रश्न—"आपने जिस अद्वैत अवस्था के बारे में कहा है, वह क्या केवल एक आदर्श है अथवा वास्तव में किसी ने यह अवस्था प्राप्त भी की है?"

उत्तर—"हम तो उस अवस्था को प्रत्यक्ष का ही विषय जानते हैं—यह अवस्था प्रत्यक्ष उपलब्धि करने का ही विषय है।

यदि वह केवल मुँह की ही बात है तब तो उसका मूल्य कुछ भी नहीं। उस तत्त्व की उपलब्धि करने के लिए वेदों में तीन उपाय बतलाए गए हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन। इस आत्मतत्व के विषय में पहले श्रवण करना होगा। श्रवण करने के बाद इस विषय पर विचार करना होगा; अन्धभाव से विश्वास न कर, अच्छी तरह विचार कर, समझ-बूझकर विश्वास करना होगा। इस प्रकार अपने सत्यस्वरूप पर विचार कर उसके निरन्तर ध्यान में नियुक्त होना होगा, तब उसका साक्षात्कार होगा। यह प्रत्यक्षानुभूति ही यथार्थ धर्म है। केवल किसी मतवाद को स्वीकार करना धर्म का अंग नहीं है। हम तो कहते हैं कि यह समाधि या ज्ञानातीत अवस्था ही धर्म है।"

प्रश्न—"आप जब कभी इस समाधि-अवस्था को प्राप्त करेंगे तो क्या आप उसका वर्णन भी कर सकेंगे?"

उत्तर—"नहीं, कुछ नहीं कर सकेंगे; परन्तु समाधि-अवस्था या पूर्ण ज्ञान की अवस्था की प्राप्ति हुई है या नहीं, इस बात को हम अपने जीवन के ऊपर उसके फलाफल को देखकर जान सकते हैं। एक मूर्ख व्यक्ति सोता है, जब वह जागता है तो वह जैसा मूर्ख था, वैसा ही मूर्ख रहता है; शायद पहले से और भी खराब हो सकता है। परन्तु जब व्यक्ति समाधि में स्थित होता है, तो वहाँ से उत्थान के बाद वह एक तत्त्वज्ञ, साधु, महापुरुष हो जाता है। इसीसे पता लग सकता है कि ये दोनों अवस्थाएँ कितनी भिन्न भिन्न हैं।"

प्रश्न—"हम अध्यापक के प्रश्न का ही अनुसरण करते

हुए आपसे यह पूछते हैं कि क्या आप ऐसे लोगों के विषय में जानते हैं जिन्होंने आत्मसम्मोहन तत्त्व (Self-hypnotism) की कुछ न कुछ आलोचना की है ? अवश्य ही प्राचीन भारत में इस विद्या की बहुत चर्चा होती थी—पर अब उतनी दिखाई नहीं देती । हम यह जानना चाहते हैं कि जो लोग अभी भी उसकी चर्चा करते हैं, वे वर्तमान समय में उस विद्या के विषय में किस प्रकार का अभिप्राय व्यक्त करते हैं, और उसका अभ्यास या साधना किस तरह करते हैं ? "

उत्तर—" आप पाश्चात्य देशवाले जिसे सम्मोहन विद्या (Hypnotism) कहते हैं, वह तो असली व्यापार का एक सामान्य अंगमात्र है । हिन्दू लोग उसे 'आत्मापसम्मोहन' (Self-dehypnotization) कहते हैं । वे कहते हैं, आप तो पहले से ही सम्मोहित (hypnotized) हैं—इस सम्मोहित भाव को दूर करना होगा, विगतमोह (dehypnotized) होना होगा । "

" न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ "

" वहाँ सूर्य प्रकाश को नहीं पाता, चन्द्र, तारका, विद्युत् भी नहीं—तो फिर इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या ? उन्हीं के प्रकाश से समस्त प्रकाशित हो रहा है । "

"यह तो सम्मोहन (Hypnotism) नहीं है—यह तो अपसम्मोहन या विगत-मोहीकरण (Dehypnotization) है। हम कहते हैं कि अन्य सारे मत इसी प्रपंच की सत्यता की शिक्षा देते हैं, इसलिए वे एक प्रकार से सम्मोहन का प्रयोग करते हैं। केवल अद्वैतवादी ही ऐसे हैं जो सम्मोहित होना नहीं चाहते। एकमात्र अद्वैतवादी ही जानते हैं कि सब प्रकार के द्वैतवाद से ही सम्मोहन या मोह उत्पन्न होता है; इसीलिए अद्वैतवादी कहते हैं, 'वेदों को भी अपरा विद्या समझकर उनके अतीत हो जाओ, सगुण ईश्वर के भी परे चले जाओ, सारे विश्वब्रह्माण्ड को भी छोड़ दो, इतना ही नहीं, अपने शरीर-मन आदि का भी अतिक्रमण करो—कुछ भी शेष न रहने पाए—तभी, और केवल तभी तुम सम्पूर्ण रूप से मोह से मुक्त हो जाओगे।'

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन ॥'

"मन के सहित वागादि सारी इन्द्रियाँ जिन्हें न पाकर जहाँ से लौट आती हैं, उस आनन्दस्वरूप परब्रह्म को जानकर विद्वान् पूर्णरूप से निर्भय हो जाते हैं।"

"न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखम्
न मन्त्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥"

"मेरा न कोई पुण्य है, न पाप; न सुख है, न दुःख; मेरे लिए मन्त्र, तीर्थ, वेद या यज्ञ कुछ भी नहीं हैं। मैं भोजन, भोज्य या भोक्ता कुछ भी नहीं हूँ—मैं तो सच्चिदानन्दस्वरूप शिव हूँ, मैं ही शिव (मंगलस्वरूप) हूँ।"

हम सम्मोहन विद्या के सब तत्त्व जानते हैं। हमारी जो मनस्तत्त्व विद्या है उसके विषय में हाल ही में पाश्चात्य देशवालों ने थोड़ा थोड़ा जानना प्रारम्भ किया है; परन्तु दुःख की बात है कि अभी तक वे उसे पूर्ण रूप से नहीं जान सके।"

प्रश्न—"आप लोग 'ऐस्ट्रल बॉडी' (Astral body) किसे कहते हैं?"

उत्तर—"हम उसे लिंग-शरीर कहते हैं। जब इस देह का पतन होता है, तब दूसरे शरीर का ग्रहण किस प्रकार होता है? भूतों को छोड़कर शक्ति ठहर ही नहीं सकती। इसलिए सिद्धान्त यह है कि देहत्याग होने के पश्चात् भी सूक्ष्म भूतों का कुछ अंश हमारे साथ रह जाता है। भीतर की इन्द्रियाँ उन सूक्ष्म भूतों की सहायता से और एक नूतन देह तैयार कर लेती है, क्योंकि प्रत्येक अपनी अपनी देह बना लेता है—मन ही शरीर को तैयार कर लेता है। यदि हम साधु बनेंगे तो हमारा मस्तिष्क ज्ञानी साधु के मस्तिष्क में परिणत होगा। योगी कहते हैं कि वे इसी जीवन में अपने शरीर को देवशरीर में परिणत कर सकते हैं।

"योगी अनेक चमत्कार दिखाते हैं। कोरे मतवादों की राशि की अपेक्षा अल्प अभ्यास का मूल्य भी बहुत अधिक है।

अतएव हमें यह कहने का अधिकार नहीं है कि अमुक अमुक बातें हमने स्वयं नहीं देखीं, अतः वे मिथ्या हैं। योगियों के ग्रन्थों में लिखा है कि अभ्यास के द्वारा सब प्रकार के बड़े बड़े अद्‌भुत फलों की प्राप्ति हो सकती है। नियमित रूप से अभ्यास करने पर अल्प काल में ही थोड़े बहुत फल की प्राप्ति हो जाती है जिससे यह जाना जा सकता है कि इसमें कुछ कपट या धोखेबाजी नहीं है। और सब शास्त्रों में ही जिन अलौकिक बातों का उल्लेख है, योगी वैज्ञानिक युक्तिपूर्ण रीति से उनकी व्याख्या करते हैं। अब प्रश्न यह है कि संसार की सब जातियों में इस प्रकार के अलौकिक कार्यों का विवरण कैसे लिपिबद्ध किया गया? जो व्यक्ति कहता है कि यह सब मिथ्या है, इसलिए उनकी व्याख्या करने की कुछ आवश्यकता नहीं, उसे युक्तिवादी विचारक नहीं कहा जा सकता। जब तक आप उन्हें भ्रमात्मक प्रमाणित नहीं कर सकते, तब तक उन्हें अस्वीकार करने का अधिकार आपको नहीं है। आपको यह प्रमाणित करना होगा कि इन सबका कोई आधार नहीं है, तभी उनको अस्वीकार करने का अधिकार आपको होगा। परन्तु आप लोगों ने तो ऐसा किया नहीं। दूसरी ओर योगी कहते हैं कि वास्तव में ये सब अद्‌भुत व्यापार नहीं हैं और वे इस बात का दावा करते हैं कि ऐसी क्रियाएँ वे अभी भी कर सकते हैं। भारत में आज तक अनेक अद्‌भुत घटनाएँ होती आ रही हैं, परन्तु उनमें से कोई भी किसी अप्राकृतिक शक्ति द्वारा नहीं घटी। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। और केवल वैज्ञानिक रूप से मनस्तत्त्व की आलोचना

करने के प्रयत्न को छोड़कर इन ग्रन्थों द्वारा चाहे और कुछ भले ही न हुआ हो, परन्तु फिर भी इसका सारा श्रेय इन योगियों को ही है।"

प्रश्न—" योगी क्या क्या चमत्कार दिखा सकते हैं, इसके उदाहरण क्या आप दे सकते हैं?"

उत्तर—" योगियों का कथन है कि अन्य किसी विज्ञान की चर्चा करने के लिए जितने विश्वास की आवश्यकता होती है, योग-विद्या के निमित्त उससे अधिक विश्वास की ज़रूरत नहीं। किसी विषय को स्वीकार करने के बाद एक भद्र व्यक्ति उसकी सत्यता की परीक्षा के लिए जितना विश्वास करता है, उससे अधिक विश्वास करने को योगी लोग नहीं कहते। योगी का आदर्श अतिशय उच्च है। मन की शक्ति से जो सब कार्य हो सकते हैं, उनमें से निम्नतर कुछ कार्यों को हमने प्रत्यक्ष देखा है; इससे हम यह विश्वास करते हैं कि उच्चतर कार्य भी मन की शक्ति द्वारा हो सकते हैं। इसलिए हम उन पर अविश्वास नहीं कर सकते। योगी का आदर्श है—सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का लाभ कर उनकी सहायता से शाश्वत शान्ति और प्रेम का अधिकारी हो जाना। हम एक योगी महात्मा को जानते हैं जिन्हें एक बड़े विषले सर्प ने काट लिया था। सर्पदंश होते ही वे बेहोश हो जमीन पर गिर पड़े। सन्ध्या के समय वे फिर होश में आगए। उनसे जब पूछा गया कि क्या हुआ था तो वे बोले—" हमारे प्रियतम का भेजा हुआ एक दूत आया था।" इन महात्मा की सारी घृणा, क्रोध तथा हिंसा का भाव पूर्ण रूप से दग्ध

हो चुका था। किसी प्रकार अनिष्ट का बदला लेने के लिए वे शत्रुता नहीं कर सकते थे। वे सर्वदा अनन्त प्रेमस्वरूप ही हैं और प्रेम की शक्ति से वे सर्वशक्तिमान हो गए हैं। ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ योगी है। और यह सब शक्तियों का विकास अथवा अनेक प्रकार के चमत्कार दिखलाना गौण मात्र है। यह सब प्राप्त कर लेना योगी का लक्ष्य नहीं है। योगी कहते हैं कि योगी के अतिरिक्त अन्य सब गुलाम ही रहते हैं। खाने-पीने के गुलाम, अपनी स्त्री के गुलाम, अपने लड़के-बच्चों के गुलाम, रुपये-पैसे के गुलाम, स्वदेशवासीयों के गुलाम, नाम-यश के गुलाम, जलवायु के गुलाम, इस संसार के हजारों विषयों के गुलाम! जो मनुष्य इन बन्धनों में से किसी भी बन्धन में नहीं फँसे, वे ही यथार्थ मनुष्य हैं—वे ही यथार्थ योगी हैं।

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥"

"जिनका मन साम्यभाव में अवस्थित है, उन्होंने यहीं संसार पर जय प्राप्त कर ली है। ब्रह्म निर्दोष और समभावापन्न है, इसलिए वे भी ब्रह्म में ही अवस्थित हैं।"

प्रश्न—"क्या योगी जातिभेद को विशेष आवश्यक समझकर उसे स्वीकार करते हैं?"

उत्तर—"नहीं, जातिविभाग तो उन लोगों को, जिनका मन अभी अपरिपक्व है, शिक्षा प्रदान करने का एक विद्यालय मात्र है।"

प्रश्न—" इस समाधितत्त्व के साथ भारत की गरम जलवायु का तो कुछ सम्बन्ध नहीं है ? "

उत्तर—" मैं तो नहीं समझता कि कोई ऐसा सम्बन्ध है। क्योंकि समुद्र-धरातल से पन्द्रह हज़ार फीट की ऊँचाई पर और सुमेरु के समान जलवायु वाले हिमालय में ही तो योगविद्या का उद्भव हुआ था। "

प्रश्न—" ठण्डी जलवायु में क्या योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है ? "

उत्तर—" हाँ, अवश्य सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है। और इस संसार में योग की सिद्धि जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्राप्त हो सकती है वैसा और कुछ भी नहीं है। हम कहते हैं—आप सब लोग, आप में से प्रत्येक, जन्म से ही वेदान्तिक हैं। आप अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में संसार की सब वस्तुओं के साथ अपने एकत्व की घोषणा कर रहे हैं। ज्योंही आपका हृदय सारे संसार के कल्याण के लिए व्याकुल हो जाता है तभी आप अनजान में सच्चे वेदान्तवादी बन जाते हैं। आप नीतिपरायण हैं; परन्तु आप क्यों नीतिपरायण हैं, इसका कारण तो आप नहीं जानते। एकमात्र वेदान्त-दर्शन ही नीति-तत्त्व का विश्लेषण कर मनुष्य को ज्ञानपूर्वक नीतिपरायण होने की शिक्षा देता है। वेदान्त-दर्शन ही सब धर्मों का सार-स्वरूप है। "

प्रश्न—" क्या आप यह कहते हैं कि हम पाश्चात्यों में ऐसे

कुछ असामाजिक भाव हैं, जिनके कारण हम इस तरह बहुवादी और भेदपरायण बन रहे हैं ? और जिनके अभाव के कारण प्राच्य देश के लोग हमसे अधिक सहानुभूतिसम्पन्न हैं ? "

उत्तर—" हमारे मत में पाश्चात्य जाति अधिक निर्दय स्वभाव की है, और प्राच्य देश के लोग सब भूतों के प्रति अधिक दयासम्पन्न हैं । परन्तु इसका कारण सिर्फ यही है कि आपकी सभ्यता बहुत ही आधुनिक है। किसी के स्वभाव को दयावृत्ति-सम्पन्न बनाने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है । आपमें शक्ति काफी है; परन्तु जिस मात्रा में शक्ति का संचय हो रहा है, उसी मात्रा में हृदय-विकास की शिक्षा नहीं दी गई । विशेषकर मन:संयम का अभ्यास बहुत ही अल्प परिमाण में हुआ है। आपको साधु और शान्तप्रकृति बनने में बहुत समय लगेगा, परन्तु भारतवासीयों के प्रत्येक रक्तबिन्दु में यह भाव मानो प्रवाहित हो रहा है । यदि हम भारत के किसी गाँव में जाकर उन्हें राजनीति की शिक्षा देना चाहें तो वे उसे नहीं समझेंगे। परन्तु यदि हम उन्हें वेदान्त का उपदेश देंगे तो वे कहेंगे—' हाँ, स्वामीजी, अब हम आपकी बात समझ रहे हैं—आप ठीक ही कह रहे हैं ।' अब भी भारत में सर्वत्र इसी वैराग्य या अनासक्ति का भाव देखने में आता है, यद्यपि आज हमारा बहुत पतन हो गया है, परन्तु अभी भी वैराग्य का प्रभाव इतना अधिक विद्यमान है कि राजा भी अपने राज्य का त्यागकर साथ में कुछ भी न लेता हुआ देश में सर्वत्र पर्यटन करेगा ।

"किसी किसी स्थान में ऐसा भी देखा जाता है कि गाँव की एक मामूली लड़की भी अपने चरखे से सूत कातते समय कहती है—"मुझे द्वैतवाद का उपदेश मत सुनाओ, मेरा चरखा भी 'सोऽहं' 'सोऽहं' 'मैं स्वयं वही ब्रह्म हूँ,' 'मैं स्वयं वही ब्रह्म हूँ,' कह रहा है।"

इन लोगों के पास जाकर उनसे वार्तालाप कीजिए और उनसे पूछिए कि जब तुम इस प्रकार 'सोहं' कहते हो तो फिर इस पत्थर को प्रणाम क्यों करते हो? इसके उत्तर में वे कहेंगे—"आपकी दृष्टि में तो धर्म एक मतवादमात्र है, परन्तु हम तो धर्म का अर्थ प्रत्यक्षानुभूति ही समझते हैं।" उनमें से कोई शायद कहेगा, "मैं तो तभी यथार्थ वेदान्तवादी होऊँगा, जब सारा संसार मेरे सामने से अंतर्हित हो जायगा, जब मैं सत्य का दर्शन कर लूँगा। जब तक हम उस स्थिति में नहीं पहुँचते, तब तक हममें और एक साधारण अज्ञ व्यक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। इसीलिए हम प्रस्तर मूर्ति की उपासना कर रहे हैं, मन्दिर में जाते हैं, जिससे कि अन्त में हमें प्रत्यक्षानुभूति हो जाय। हमने वेदान्त का श्रवण अवश्य कर लिया है, परन्तु हम अब उस वेदान्तप्रतिपाद्य आत्मतत्त्व को देखना चाहते हैं—उसका प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना चाहते हैं।"

"वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये॥"—श्री शंकराचार्य

"धाराप्रवाह रूप से मनोरम सद्वाक्यों की योजना, शास्त्रों की व्याख्या करने का नाना प्रकार का कौशल,—ये केवल पण्डितों के आमोद के लिए ही हैं, इनके द्वारा मुक्तिलाभ की कोई सम्भावना नहीं है।"

"यदि हम ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकेंगे, तभी हमें मुक्ति-लाभ होगा—अन्यथा नहीं।"

प्रश्न—"आध्यात्मिक विषय में जब सर्वसाधारण के लिये इस प्रकार स्वाधीनता है तो क्या इस स्वाधीनता के साथ जातिभेद का विरोध नहीं है?"

उत्तर—"अवश्य ही विरोध है। लोग कहते हैं कि जाति-भेद नहीं रहना चाहिए, इतना ही नहीं, बल्कि जो लोग भिन्न भिन्न जातियों के अन्तर्गत हैं, वे भी कहते हैं कि जाति-विभाग कोई उच्च प्रकार की चीज़ नहीं है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि यदि तुम इससे अच्छी कोई अन्य वस्तु हमें दो तो हम इसे छोड़ देंगे। वे कहते हैं कि तुम इसके बदले हमें क्या दोगे? जातिभेद कहाँ नहीं है बोलो? तुम भी तो अपने देश में इसी प्रकार के जाति-विभाग की सृष्टि करने का प्रयत्न सर्वदा कर रहे हो। जब कोई व्यक्ति कुछ अर्थ संग्रह कर लेता है तो वह कहने लगता है कि मैं भी तुम्हारे दो-चार सौ धनिकों में से एक धनिक हूँ। केवल हम ही एक स्थायी जातिविभाग का निर्माण करने में सफल हुए हैं। अन्य देशवाले इस प्रकार के स्थायी जातिविभाग की स्थापना के लिए प्रयत्न कर रहे हैं किन्तु वे सफल नहीं हो पाते। हमारे

समाज में भी कुसंस्कार और बुरी बातें बहुत हैं; आपके देश के कुसंस्कारों तथा बुरी बातों को हमारे देश में प्रचलित कर देने से ही क्या सब ठीक हो जायगा?—जातिभेद है इसीलिए तो आज भी हमारे देश के तीस करोड़ लोगों को खाने के लिए रोटी का टुकड़ा मिल रहा है। हाँ, यह अवश्य सच है कि रीति-नीति की दृष्टि से इसमें असम्पूर्णता है; और इस बात में कोई सन्देह नहीं। परन्तु यदि यह जातिविभाग न होता तो आज आपको एक भी संस्कृत ग्रन्थ पढ़ने के लिए न मिलता। इसी जाति-विभाग के द्वारा एक ऐसी मजबूत दीवाल की सृष्टि हुई थी जिसके ऊपर बहिराक्रमण के सैकड़ों प्रकार के आघात होने पर भी वे उसे तोड़ नहीं सके थे। अभी भी वह प्रयोजन विद्यमान है, इसीलिए अभी भी जातिविभाग वर्तमान है। सात सौ वर्ष पहले जिस प्रकार का जातिविभाग था, आज उस प्रकार का जातिविभाग नहीं है। उसके ऊपर जितने ही आघात होते गये उतना ही वह अधिक दृढ़ बनता गया। क्या आप यह नहीं जानते कि केवल भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जो परराष्ट्र पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी सीमा से बाहर कभी नहीं गया? महासम्राट् अशोक ने विशेष कर यह बात कह दी थी कि उसके कोई भी उत्तराधिकारी परराष्ट्र-विजय के लिये कोशिश न करें। यदि अन्य जाति हमारे यहाँ प्रचारकों को भेजना चाहती है, तो वह ऐसा करे; परन्तु उन्हें हमारी वास्तविक सहायता करनी चाहिये। जातीय सम्पत्तिस्वरूप हमारा जो धर्मभाव है उसे उनके द्वारा क्षति नहीं पहुँचनी चाहिये।

" ये सब विभिन्न जातियाँ हिन्दू जाति पर विजय प्राप्त करने के लिए क्यों आईं ? क्या हिन्दुओं ने अन्य जातियों का कुछ अनिष्ट किया था ? बल्कि जहाँ तक सम्भव था, उन्होंने जगत् का उपकार ही किया था। उन्होंने संसार को विज्ञान, दर्शन और धर्म की शिक्षा दी, एवं संसार की अनेक असभ्य जातियों को भी उन्होंने सभ्य बनाया। परन्तु उसके बदले में भारत को क्या मिला ?—रक्तपात, अत्याचार और दुष्ट 'काफिर' यह शुभनाम !! वर्तमान काल में भी पाश्चात्य जातीय व्यक्तियों द्वारा लिखित भारत सम्बन्धी ग्रंथों को पढ़कर देखिये तथा यहाँ पर भ्रमण करने के लिये जो लोग आये थे उनके द्वारा लिखित आख्यायिकाओं को भी पढ़िए। हम क्या देखेंगे ? यही कि उन्होंने भी हिन्दुओं को 'हिदन्' अर्थात् अपदेवता के घृण्य उपासक आदि शब्दों द्वारा गाली दी है। किस अनिष्ट के प्रतिशोध के लिये अभी भी भारतवासी की इस प्रकार व्यर्थ निन्दा की जा रही है ?"

प्रश्न—" सभ्यता के विषय में वेदान्त का क्या मत है ?"

उत्तर—" आप दार्शनिक लोग हैं—आप यह नहीं मानते के रुपये की थैली पास रहने से ही मनुष्य मनुष्य में कुछ भेद उत्पन्न हो जाता है। इन सब कल-कारखानों और जड़-विज्ञानों का मूल्य क्या है ? उनका तो सिर्फ एक ही फल देखने में आता है—वे सर्वत्र ज्ञान का विस्तार करते हैं। आप अभाव अथवा दारिद्र्य की समस्या को हल नहीं कर सके, बल्कि आपने तो अभाव की मात्रा और भी बढ़ा दी। यंत्रों की सहायता से 'दारिद्र्य-समस्या'

का कभी समाधान नहीं हो सकता। उनके द्वारा जीवन-संग्राम अधिक तीव्र हो जाता है, प्रतियोगिता और भी बढ़ जाती है। जड़ प्रकृति का क्या कोई स्वतन्त्र मूल्य है? कोई व्यक्ति यदि तार के भीतर से बिजली का प्रवाह भेज सकता है तो आप उसी समय उसका स्मारक बनाने के लिए क्यों उद्यत हो जाते हैं? क्या प्रकृति स्वयं यह कार्य लाखों बार नित्य नहीं करती? प्रकृति में सब कुछ क्या पहले से ही विद्यमान नहीं है? आपको उसकी प्राप्ति होने पर उससे क्या लाभ? वह तो पहले से ही वहाँ वर्तमान है। उसका एकमात्र मूल्य यही है कि वह हमें भीतर से उन्नत बनाता है। यह जगत् मानो एक व्यायाम-शाला के सदृश है—इसमें जीवात्मागण अपने अपने कर्म के द्वारा अपनी अपनी उन्नति कर रहे हैं और इसी उन्नति के फलस्वरूप हम देवस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं। इसलिए किस विषय में भगवान का कितना प्रकाश है, यह जानकर ही उस विषय का मूल्य या उसकी सारवत्ता निर्धारित करनी चाहिए। सभ्यता का अर्थ है मनुष्य में इसी प्रकार ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति।"

प्रश्न—"क्या बौद्धों का भी किसी प्रकार का जाति-विभाग है?"

उत्तर—"बौद्धों में कभी भी कुछ विशेष जातिविभाग नहीं था और भारत में बौद्धों की संख्या भी बहुत थोड़ी है। बुद्धदेव एक समाज-सुधारक थे। हमने बौद्ध देशों में देखा है कि वहाँ जातिविभाग की सृष्टि करने के लिए बहुत प्रयत्न होते रहे, परन्तु वे सब असफल रहे। बौद्धों में जो जातिविभाग है वह वास्तव में नहीं जैसा ही है, परन्तु मन ही मन वे स्वयं को उच्च जाति मान कर गर्व करते हैं।

"बुद्धदेव एक वेदान्तवादी संन्यासी थे। उन्होंने एक सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जैसे कि आजकल नये नये सम्प्रदाय स्थापित होते हैं। जो सब भाव वर्तमान में बौद्ध धर्म के नाम से प्रचलित हैं, वे वास्तव में बुद्धदेव के स्वय के नहीं है। वे सारे भाव बुद्धदेव से भी बहुत प्राचीन हैं। बुद्धदेव एक महापुरुष थे, उन्होंने इन भावों में एक नवीन शक्ति का संचार कर दिया था। बौद्ध धर्म का सामाजिक भाव ही उसकी नवीनता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हमारे सर्वदा आचार्य रहे हैं। उपनिषदों में से अधिकांश तो क्षत्रियों द्वारा ही रचे गये हैं और वेदों का कर्मकाण्ड-भाग ब्राह्मणों द्वारा। समग्र भारत में हमारे जो बड़े बड़े आचार्य हो गये हैं, उनमें भी बहुत से क्षत्रिय थे; उनके उपदेश भी बड़े उदार तथा सार्वजनीन पाये जाते हैं। परन्तु केवल दो ब्राह्मण आचार्यों को छोड़कर शेष सब ब्राह्मण आचार्य अनुदारभावसम्पन्न थे। श्रीभगवान के अवतार के रूप में पूजे जाने वाले राम, कृष्ण, बुद्ध—ये सभी क्षत्रिय थे।"

प्रश्न—"सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र—ये सब क्या तत्व का साक्षात्कार कर लेने में सहायक है?"

उत्तर—"तत्त्व-साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य सब कुछ छोड़ देता है। विभिन्न सम्प्रदाय, अनुष्ठान, शास्त्र आदि की वहाँ तक ही उपकारिता है जहाँ तक वे पूर्ण स्थिति में पहुँचने के लिए सहायता करते हैं। परन्तु जब उनसे कोई सहायता नहीं पाई जाती तब अवश्य ही उनमें परिवर्तन कर देना चाहिये।"

"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥"

अर्थात् "ज्ञानी व्यक्ति को कभी भी अज्ञानी की अवस्था के प्रति घृणा प्रदर्शित नहीं करनी चाहिये और अपनी अपनी साधन-प्रणाली में उनके विश्वास को नष्ट नहीं करना चाहिये; बल्कि उन साधनों को यथार्थ भाव से स्वयं प्रचलित करना चाहिये, और वह स्वयं जिस अवस्था में अवस्थित है, उसी में पहुँचने के लिये उन्हें मार्ग दर्शाना चाहिये।"

प्रश्न—"वेदान्त में व्यक्तित्व * (Individuality) तथा नीति की किस प्रकार व्याख्या की गई है?"

उत्तर—"प्रकृत अविभाज्य व्यक्तित्व ही वह पूर्ण ब्रह्म है—माया द्वारा ही उसने पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं। केवल ऊपर से ही इस प्रकार का भान हो रहा है, पर वास्तव में वह सदा ही वही पूर्ण ब्रह्मस्वरूप है। वास्तव में एक सत्ता ही

---

* अंगरेजी के Individual शब्द में 'अ-विभाज्य' और 'व्यष्टि' दोनों भाव निहित हैं। स्वामीजी जब उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्म ही वास्तव में Individual है' तब प्रथमोक्त भाव को अर्थात् उपचय-अपचय-हीन अविभाज्यता को ही वे लक्ष्य करते हैं। फिर कहते हैं कि उस सत्ता ने माया के कारण पृथक् पृथक् व्यक्ति के आकार धारण किये हैं।

विद्यमान है---केवल माया द्वारा ही वह विभिन्न रूपों में प्रतीत हो रही है। माया द्वारा ही यह भेद-बोध हो रहा है। परन्तु इस माया के भीतर भी सर्वदा उसी एक की ओर लौट जाने की चेष्टा दिखाई देती है। प्रत्येक जाति की नीति के भीतर यही चेष्टा अभिव्यक्त हो रही है, क्योंकि यह तो जीवात्मा का प्रकृतिगत प्रयोजन (Constitutional necessity) है। वह जीवात्मा इस प्रकार की चेष्टा द्वारा उसी एकत्व का लाभ कर रहा है---और एकत्वलाभ की इसी चेष्टा को हम नीति कहते हैं। इसलिए हमें सर्वदा नीति-परायण होना चाहिए।"

प्रश्न---"नीति का अधिकांश भाग क्या विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में ही नहीं है?"

उत्तर---"हाँ नीति का यही स्वरूप है। पूर्ण ब्रह्म तो कभी भी माया की सीमा के भीतर नहीं आ सकता।"

प्रश्न---"आपने कहा कि 'मैं' ही वह पूर्णब्रह्म हूँ---मैं आपसे पूछने ही वाला था कि इस 'मैं' या 'अहम्' का ज्ञान रहता है या नहीं?"

उत्तर---"यह 'अहं' या 'मैं' उसी पूर्ण ब्रह्म का प्रकाश-स्वरूप है और इस अभिव्यक्त दशा में उसमें जो प्रकाशशक्ति कार्य कर रही है उसी को हम 'ज्ञान' कहते हैं। इसलिए उस पूर्ण ब्रह्म के ज्ञानस्वरूप में 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग यथार्थ नहीं है, क्योंकि वह पूर्णावस्था तो इस आपेक्षिक ज्ञान के परे है।"

प्रश्न—“ यह आपेक्षिक ज्ञान क्या पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत है ? ”

उत्तर—“ हाँ—एक दृष्टि से आपेक्षिक ज्ञान को पूर्ण ज्ञान के अन्तर्गत कहा जा सकता है । जिस प्रकार सोने की मुहर भुनाने पर रुपये, आने, पैसे में बदल दी जा सकती है, उसी प्रकार इस पूर्ण ज्ञानस्वरूप से सब प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है । उसी का नाम है अतिज्ञान, ज्ञानातीत या पूर्ण ज्ञान की अवस्था—साधारण ज्ञान और अज्ञान दोनों उसके अन्तर्गत हैं । जो व्यक्ति इस पूर्ण ज्ञानावस्था को प्राप्त करता है, उसमें यह आपेक्षिक साधारण ज्ञान भी विद्यमान रहता है । जब वह पूर्ण ज्ञान की दूसरी अवस्था अर्थात् हमारी परिचित आपेक्षिक ज्ञानावस्था का अनुभव करना चाहता है, तो उसे एक सीढ़ी नीचे उतरना पड़ता है । यह साधारण ज्ञान एक निम्नतर अवस्था है—केवल माया के भीतर ही इस प्रकार का ज्ञान हो सकता है । ”

हमार अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३ **श्रीरामकृष्णवचनामृत**–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)— मूल्य ६);
द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग–मूल्य ७॥)

४-५. **श्रीरामकृष्णलीलामृत**—(विस्तृत जीवनी)— (द्वितीय संस्करण)–
दो भागों में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. **विवेकानन्द-चरित**–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. **विवेकानन्दजी के संग में**–(वार्तालाप)–शिष्य शरच्चन्द्र,(द्वि.सं.)मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. **भारत में विवेकानन्द**–(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. **ज्ञानयोग**	(प्रथम संस्करण)	३)
१०. **पत्रावली (प्रथम भाग)**	(प्रथम संस्करण)	२=)
११. ,, **(द्वितीय भाग)**	(प्रथम संस्करण)	२=)
१२. **धर्मविज्ञान**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३. **कर्मयोग**	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१४. **हिन्दू धर्म**	(द्वितयि संस्करण)	१॥)
१५. **प्रेमयोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१६. **भक्तियोग**	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१७. **आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग**	(तृतीय संस्करण)	१।)
१८. **परिव्राजक**	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१९. **प्राच्य और पाश्चात्य**	(चतुर्थ संस्करण)	१)
२०. **महापुरुषों की जीवनगाथायें**	(प्रथम संस्करण)	१।)
२१. **राजयोग**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२२. **स्वाधीन भारत ! जय हो !**	(प्रथम संस्करण)	१=)
२३. **धर्मरहस्य**	(प्रथम संस्करण)	१)
२४. **भारतीय नारी**	(प्रथम संस्करण)	॥।)
२५. **शिक्षा**	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२६. **शिकागो-वक्तृता**	(पञ्चम संस्करण)	॥=)

२७. **हिन्दू धर्म के पक्ष में** (द्वितीय संस्करण) ||=)
२८. **मेरे गुरुदेव** (चतुर्थ संस्करण) ||=)
२९. **कवितावली** (प्रथम संस्करण) ||=)
३०. **सरल राजयोग** (प्रथम संस्करण) ||)
३१. **वर्तमान भारत** (तृतीय संस्करण) ||)
३२. **पवहारी बाबा** (द्वितीय संस्करण) ||)
३३. **मेरा जीवन तथा ध्येय** (द्वितीय संस्करण) ||)
३४. **मरणोत्तर जीवन** (द्वितीय संस्करण) ||)
३५. **मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें** ||)
३६. **भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ**—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ||=)
३७. **मेरी समर-नीति** (प्रथम संस्करण) |≡)
३८. **ईशदूत ईसा** (प्रथम संस्करण) |=)
३९. **वेदान्त—सिद्धान्त और व्यवहार**—स्वामी शारदानन्द |=)
४०. **विवेकानन्दजी की कथायें** (प्रथम संस्करण) १|)
४१. **परमार्थ-प्रसंग**—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३|||)
कार्डबोर्ड की जिल्द, ,, ३|)
४२. **श्रीरामकृष्ण-उपदेश,** (प्रथम संस्करण) ||=)

मराठी विभाग

१-२. **श्रीरामकृष्ण-चरित्र**—प्रथम भाग, (तिसरी आवृत्ति) ३|)
,, ,, द्वितीय भाग, (दुसरी आवृत्ति) ३|)
३. **श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा** — (दुसरी आवृत्ति)—स्वामी ब्रह्मानंद द्वारा संकलित |||=)
४. **शिकागो-व्याख्यानें** — (दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ||=)
५. **माझे गुरुदेव** — (दुसरी आवृत्ति) – स्वामी विवेकानंद ||=)
६. **हिंदु-धर्माचें नव-जागरण** — स्वामी विवेकानंद ||-)
७. **पवहारी बाबा** — स्वामी विवेकानंद ||)
८. **साधु नागमहाशय-चरित्र** (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य)– (दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश